चेतना के गहराव में

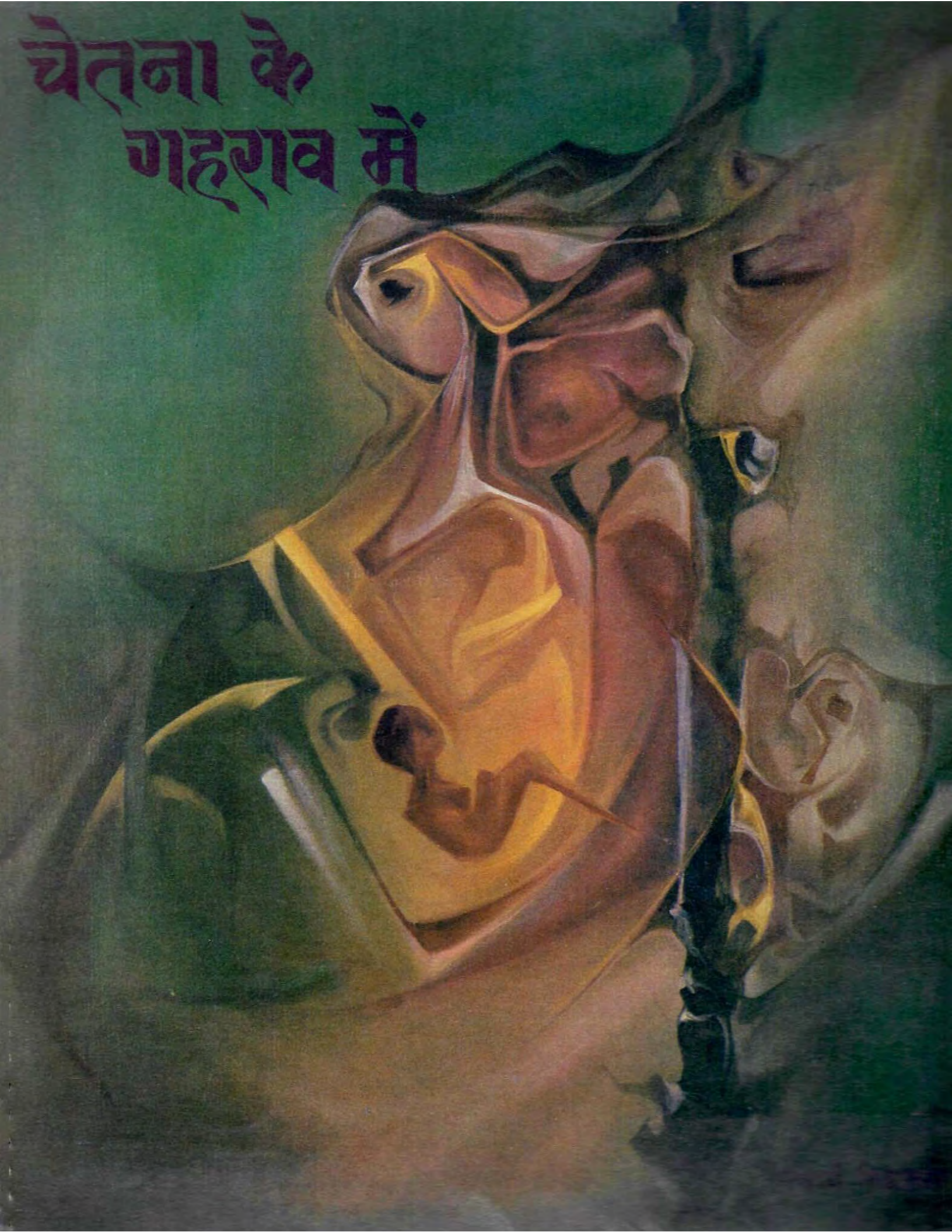

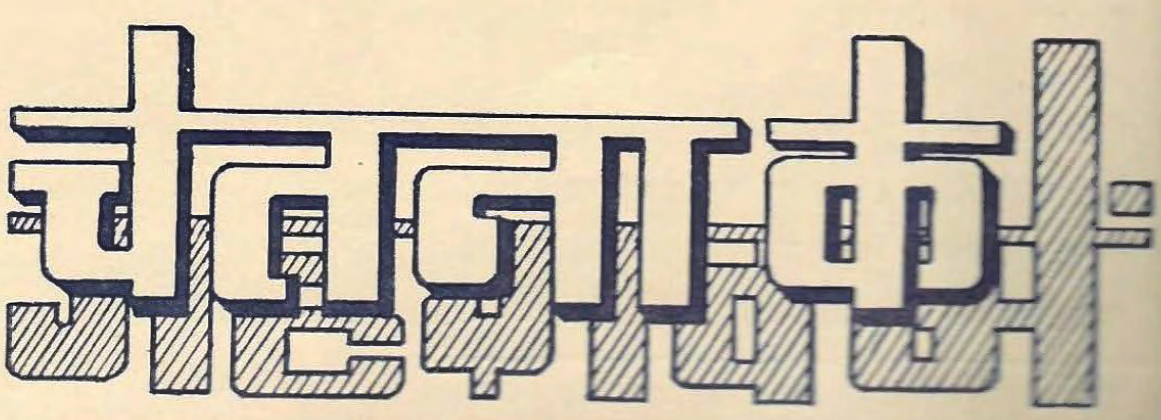

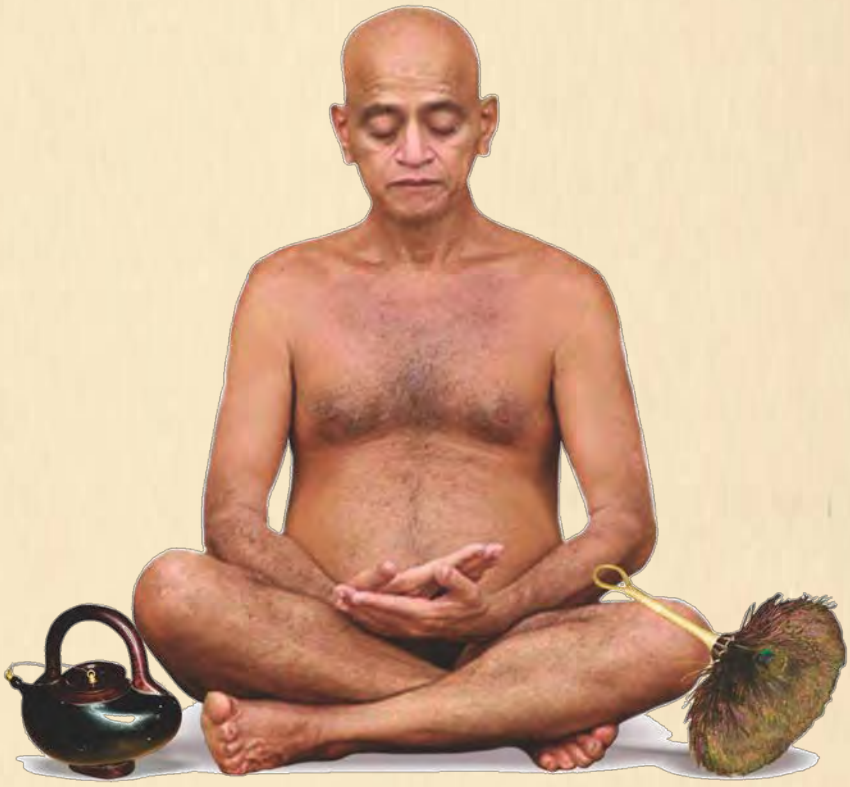

आचार्य प्रवर १०८ श्री विद्यासागर जी महाराज

आचार्य श्री एवं संघ की समस्त जानकारी के लिए क्लिक करें

www.VidyaSagar.Guru

भजन

प्रवचन

हायकू

विचार

परिचय

शिष्य गण

पाठशाला

संस्मरण

आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी महोत्सव वर्ष पर

चेतना के गहराव में

(विशिष्ट काव्य-संग्रह)

आचार्य विद्यासागर

सहयोजन : सुरेश सरल

ज्ञानोदय प्रकाशन

पिसनहारी, जबलपुर–३

रेखांकन : डी. सुरेन्द्र राव एवं संतोष जडिया

अनिल मुद्रणालय, जबलपुर

राज संस्करण : साठ रुपये

CHETNA KE GAHARAVA MAIN : POEMS
BY ACHARYA VIDYASAGAR

अनुश्रुति

'चेतना के गहराव' का मतलब-तप्त नहीं तृप्त, क्लान्त नहीं शान्त, कष्ट नहीं तुष्ट-संपुष्ट हो, निरन्तर अभय की अनुभूति के साथ निराबाध यत्र-तत्र-सर्वत्र स्वतंत्र एकाकी यात्रा।

अतल-अगम-सत् चेतना के गहराव में स्व को अवगाहित करने पर अनुभूत होता है-मस्तक के बल पर, दोनों हाथों से नीचे के नीर को चीरता हुआ-चीरता हुआ; ऊपर की ओर फेंकता हुआ-फेंकता हुआ, जा रहा हूं, आर-पार होने, अपार यात्रा के भी पार। अब पथ में कोई आपत्ति नहीं, आपत्ति की सामग्री अवश्य ऊपर-नीचे, आगे-पीछे बिछी हुई है। किन्तु! उसका कोई ओर नहीं, कोई शोर नहीं। सर्वत्र मौन साम्राज्य, विस्तृत-वितान, सब कुछ स्वतंत्र अपनी-अपनी सत्ता संजोये सहज-सलील समुपस्थित, परस्पर में कोई टकराव नहीं, लगाव नहीं, भटकाव नहीं, सहज अपने-अपने में ठहराव, अपना संवेदन, अपना भाव, जो पर से भिन्न है, अपने से सतत् अभिन्न।

और, निरभ्र-आकाश-मण्डल में उडुगण-भांति ज्ञानादि उज्जवल-उज्जवल गुण-मणियां अवभासित हैं, अवलोकित हैं। आलोक का परिणमन घनीभूत प्रतीत होता है। नयन-गवाक्षों से फूटती है, अबाधित ज्योति-किरण, मेरी ओर चाँदी की पतली-सी धार आ रही है। कोई तनाव नहीं, उसमें केवल स्वभाव है, भावित-भाव है। ज्ञान प्रवाहित होता हुआ अनाहत बहता हुआ जा रहा है, सहज अपनी स्वभाविक गति से, अद्भुत है, अननुभूत है, निर्विकार विभूति, यह अविकल अनुभूति!

अब, भेद पतझड़ होता हुआ जा रहा है, अभेद की बसन्त-क्रीडा आरम्भ हुई। द्वैत के स्थान पर अद्वैत उग आया है। विकल्प मिटा, अविकल्प उठा। आर, पार हुआ, तदाकार हुआ, निराकार हुआ, समयसार हुआ, वह मैं! "मैं" में सब, सबमें 'मैं', प्रकाश का प्रकाश में अवतरण, विकास का विनाश उत्सर्गित होता हुआ, सम्मिलित होता हुआ, सत् साकार हो उठा, आकार निराकार हो उठा। इस प्रकार उपयोग की लम्बी यात्रा 'मत-त्वत-तत' को चीरती हुई पार करती हुई, आज सत् में विश्रान्त है। पूर्णकाम है। अभिराम है। हम नहीं, तुम नहीं, यह नहीं, वह नहीं, मैं नहीं, तूं नहीं। सब घटा, सब मिटा, सब मिटा, केवल उपस्थित सत्! सत्! सत्!.....है!!!

आचार्य विद्यासागर जी के अब तक तीन काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं तथा अभी एक संग्रह महाकाव्यात्मक प्रकाशनाधीन भी है। जिसमें उन्होंने विचार-उत्तेजना एवं जीवन की जीवन्त-धारा की अनुभूतियों को शब्दों में कहा है। इन चारों एवं कुछ अप्रकाशित काव्यों को संग्रहीत कर इस प्रतिनिधि संकलन में मात्र पचहत्तर काव्य दिये जा रहे हैं। इनकी गुणवत्ता कई पहलुओं से समीक्षणीय है।

कविताओं के बहुमुखी संकेतों को सरल,सुबोध बनाने की इस आधुनिक-रेखांकन-विधा ने इस संकलन में कई अभूतपूर्व आयाम स्थापित कर दिये हैं। इन रेखाचित्रों से काव्यगत संकेत सरल/सहज/एकनिष्ठ होने के साथ ही गूढ़/बोधगम्य/अनंतगामी भी होकर सामने आये हैं। और संभव है यह संकलन परस्पर-द्वन्द्वात्मक प्रस्तुति का सरताज बन प्रकाशन जगत् में एक नये प्रयोग के युग को आरम्भ कर रहा है।

काव्यों का सहयोजन श्री सुरेश 'सरल': रेखांकन डी. सुरेन्द्र राव एवं संतोष जडिया और आवरण का श्रम राजेन्द्र कामले ने किया। सभी को साधुवाद। साथ ही मुद्रक परिवार की लगन एवं तत्परता को भी। संकलन को इस प्रारूप की प्रेरणा मिली भाई अरुणकुमार जी बड़ौत से। जिन्होंने हरसंभव मददकर इसके प्रकाशन में हाथ बटाया। धन्यवाद। और इस प्रकाशन के साथ ज्ञानोदय प्रकाशन की इस प्रस्तुति का जायजा पाठकों पर है। साथ ही आशा है कि प्रकाशन की इन गतिविधियों पर सहजतया हस्ताक्षर कर संबल और सहयोग का योग पाठक देते रहेंगे।

पिसनहारी
१४०५८८

राकेश जैन

भूमिका

काव्य का सम्बन्ध सीधा-सीधा आत्मा से होता है, जबकि धर्म-क्षेत्र में धर्म को आत्मा से सम्बन्धित माना गया है। काव्य; जब ऐसे आत्मा से निःसृत हो जिसके पुद्गल और अन्तरंग की समष्टि महामुनि कहलाती हो तो उसका रंग कुछ और ही होता है। यहाँ जिस काव्य की चर्चा की जा रही है वह 'सामान्य जन का नहीं' 'सन्त' का काव्य है। सन्त जो निर्ग्रन्थ हैं, जिनकी रचनाधर्मिता अध्यात्म के आधार पर खड़ी होती है, जिनकी रचना-कला तप और साधना के प्रांगण से होकर चलती है और जिनका रचना-विज्ञान आत्मा और परमात्मा के बीच के अन्तर को भरता है।

ऐसा कोई जीवन नहीं है / कि
जिसमें / एक भी गुण न मिलता हो
नगर, उपनगर में; पुर, गोपुर में
प्रासाद हो या कुटिया
जिसके पास / कम से कम एक तो
प्रवेश द्वार / होता अवश्य।
(इसी संकलन से)

प्रस्तुत संकलन की कविताए अपनी कथन के कारण पृथक् लीक बनाने वाली और प्रभावोत्पादक हैं। ऐसी रचनाएं सहज मिलती भी तो नहीं हैं। ये तो वही व्यक्तित्व दे सकता है जो एक ही समय में कवि भी हैं, मुनि भी हैं, आचार्य भी हैं। ऐसे व्यक्तित्व भी सहज नहीं मिलते। भारत एवं भारत के बाहर बसे हुएँ विशाल जन समुदाय में कितने हैं? चलें, छोड़ें यह बात व्यक्तित्व की, कृतित्व की करें। इस कृति में गुंथित-गुम्फित भावचित्र की। भावतत्त्व की।

यहां संग्रहित कविताएं छन्द-मुक्त हैं। कहें हैं मुक्त-छन्द। पर उनका भाव-पक्ष, कला-पक्ष और उनका दर्शन-पक्ष लेकर पंक्ति-पंक्ति विचारणीय है। उनमें इतना कुछ है कि उनकी सांगोपांग चर्चा; वह भी आधुनिक काव्य के अधिकारी-विद्वानों के मध्य; अनिवार्य है। अन्यथा संसार कैसे जानेगा कि एक तपस्वी के कलम ने क्या-क्या दिया है!

संकलन में थोड़ी सी कविताएं ही ली गई हैं; उस पर भी उन्हें पृथक्-पृथक् खण्डों के अन्तर्गत, हर खण्ड के लिए लिखित उसकी लघु भूमिका के साथ, प्रस्तुत किया गया है। नियमन करते समय दृष्टि यह थी कि हर कोटि / स्तर के पाठक अपने 'प्रिय और पूज्य' की लेखनी का सहज तादात्म्य जुटा लें, गहराई तक डुबकी लगाने में सफल हो जावें और पा लें वह प्रसाद जो लेखनी से निःसृत होता चला है।

आचार्य विद्यासागर मुनि महाराज के काव्य संकलन जिनने पूर्व में देखे / पढ़े हैं वे इस संकलन को सहज ही हृदयंगम कर लेगें। यह है भी ऐसा। पहले से और-और सरल। हर पंक्ति संकेतों से गुथी हुई।

काई चिल्ला-चिल्ला कर कहे हिमालय ऊंचा है तो सुनने वाले चकित नहीं होंगे क्योंकि यह सर्वमान्य सत्य है कि वह ऊंचा है। इसी तरह मैं यह कहने बैठूं कि ये कविताएं बहुत अच्छी हैं तो.....! ऊंचाई की या अच्छाई की सक्रम चर्चा/वार्ता आवश्यक है। हिमालय हमारा है, मात्र इसलिए उसे हम ऊंचा कहें बात यह नहीं है। वह तो अनेकों पर्वतों के बीच ऊंचा है ही।

आचार्य श्री की रचना-धर्मिता पर दृष्टि डालिए—किसी कविता में लेखनी में महाकवि निराला के मुक्त छन्दों के समानान्तर सर्जना की है, तो किसी में मुक्तिबोध के शिल्प में व्याप्त मस्तिष्क-प्रधान / विचारप्रधान योजना की झलक देखने मिलती है। कहीं मैथिलीशरण गुप्त की तरह वे हृदयता के प्राधान्य का शिल्पन करते हैं तो कहीं हरिवंशराय 'बच्चन' की तरह शृंगारिक-शब्दों में ईश्वरीय-मस्ती की झलक बिखेरते हैं। गो यह कि निराला, मैथिलीशरण, मुक्तिबोध और बच्चन की संयुक्त काव्य-ऊर्जा उनकी लेखनी से निःसृत होती चली है पंक्ति दर पंक्ति।

इसीलिए कहा है कि उनके इस काव्य ग्रन्थ के साथ-साथ, इससे पूर्व रचित 'नर्मदा का नरम कंकर', 'तोता क्यों रोता' और 'डूबो मत, लगाओ डुबकी' जैसे काव्य संकलनों की योजनाबद्ध मीमांसा वर्तमान साहित्याचार्यों / साहित्याधिकारियों द्वारा समाज कराये; समाज के कर्ता-धर्ता/कर्णधार अगुवाई करें, संस्थाएं / ट्रस्ट अपने धनों का उपयोग करें और अपने जन-प्रिय एवं लोकपूज्य मुनि की लेखनी का साहित्यीय-मूल्यांकन समय रहते क्षितिज पर ले आवें, ताकि वह भविष्य में दर्शन के विद्यार्थियों को/साहित्य के शोधकों को, साधकों को दिशा दे सकें। जमाने के कार्य आ सके। काव्यगत 'आवश्यक' सध सके।

यहां कुछ ऐसी कविताएं भी समाविष्ट की गई हैं जो पूर्व में 'तोता क्यों रोता' और 'डुबो मत, लगाओ डुबकी' संकलनों में प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके यहां पुनःप्रवेश के पार्श्व में कुछ मायने हैं, यह / ऐसा सायास किया गया है। कहें—एक 'कहन' विशेष की रचनाएं एकत्र करने का प्रयास।

धर्म-पथ पर आरूढ़ समाज के नायकगण अपने प्रयास से विश्व के सामने यह बात अवश्य लाएं कि धर्मगुरु आचार्य विद्यासागर महाराज विश्व को वह साहित्य दे रहे हैं जिससे धर्म के अदीठ मार्ग खुल रहे हैं, जिससे दर्शन के हिमालय निर्मित हो रहे हैं, जिससे समाज में संगठनात्मक एवं साहित्यिक-उन्नति के सूत्र पड़ रहे हैं, जिससे एक समाज का परिचय विश्व के अनेक समाजों के समक्ष 'वजनदार' हो रहा है।

× × ×

यहां एक चर्चा और जोड़ देना समय-संगत होगा। आचार्यश्री के कर-कमलों से हाल ही में एक ऐसी कालंजयी रचना की सर्जना हो पड़ी है जिसे 'मूक-माटी' की संज्ञा दी गई है। लगभग ४५० पृष्ठीय यह महाकाव्य विश्व में अब तक के महाकाव्यों के मध्य एक विशेष स्थान ग्रहण करेगा। है अभी/इस क्षण प्रकाशनाधीन। इस महाकाव्य से, जैनाचार्यों की नई-नई कोटियाँ निर्णित होंगी। (इसे सबसे पहले मैंने सुना है, वह भी आचार्यश्री की श्रीवाणी में; यह मेरे सौभाग्य का परिचायक है) इस महाग्रन्थ पर देश और विदेश के साहित्यकार/साहित्यालंकार / साहित्याचार्य अधिकारी-समीक्षकगण मिलकर चर्चा करेंगे और नई कृति की चमक से साहित्यिक इतिहास का एक नया पृष्ठ स्वर्ण अक्षरों से सज्जित पायेंगे।

चुनाव

प्रकृति की गोद से

नयन नीर १
चरण-पीर २
छुवन ३
कुटिया ४
भूखी-भू ५
चिर की आग ६
खून की खूबी ७
संस्कार ८
बादल धुले ९
बोलती, मुस्कान ! ११
याद आती, कल की छवि १२
सो जाने दो १३
उषा में नशा १४
विकल्प-पंछी १५

लहराती लहरें

भोर की ओर १७
तरल-तरङ्ग १८
क्षणिकाएँ १९
सागर-तट २१
छले छांव में २३
पीयूष भरी आंखें २४

चेतना के गहराव में

कब भूलूं सब २५
स्वयं वरण २६
तुम कैसे पागल हो २७
आंखों में धूल २८
पता तूँ बता २९
सजीव-गन्ध ३१
चितकबरा ३२
पथ पूर्ण हुआ ३३
चख जरा ३४
हो जाने दो ३५
खो जाने दो ३६
मेरा वतन ३७
नरम में न, रम ३८
खरा सो मेरा ३९
स्वयं का सृष्टा मैं ४०
समता ४१

प्यास, पराग की ४३
वसना ४४
कम्पन, कदम में ४५
पानी कौन भरे ? ४६
मिलन नहीं, मिला लो ! ४७
सन्धि, अन्धि से ४८
आस अबुझ ४९
कामना ५०
भीगे पङ्ख ५१
हंसीली सत्ता ५२

चेहरे के आलेख

चुनाव ५३
सत्य, भीड़ में ५४
पूज्य, पूजक बना ५५
काया-माया ५६
गिरगिट ५७
चिन्ता नहीं, चिन्तन ५८
दयालु पंजे ५९
प्रार्थना और ६०
कम-बख्त ६१
जलप्रपात ६२
दिल की मांग ६३
धर्मयुग ६४
रङ्गीन व्यंग ६५
कदम फूल, कलम शूल ६६
अधर के बोल ६७

जीने की विधा

भू-चुम्बी द्वार ६९
मोम बनूं मैं ७०
कसरत ७१
कोहरा ७२
साहित्य ७३
हुंकार अंह का ७४
अवतार ७५
कुछ करो ना ! ७६
पंकिल पद ७७
प्रलयकाल ७८
पेट से पेटी ७९
किस सांचे में ढलूं ८०
कैंची नहीं, सुई बन ८१
शव नहीं, शिव बनूं ८३
तोता क्यों रोता ? ८४

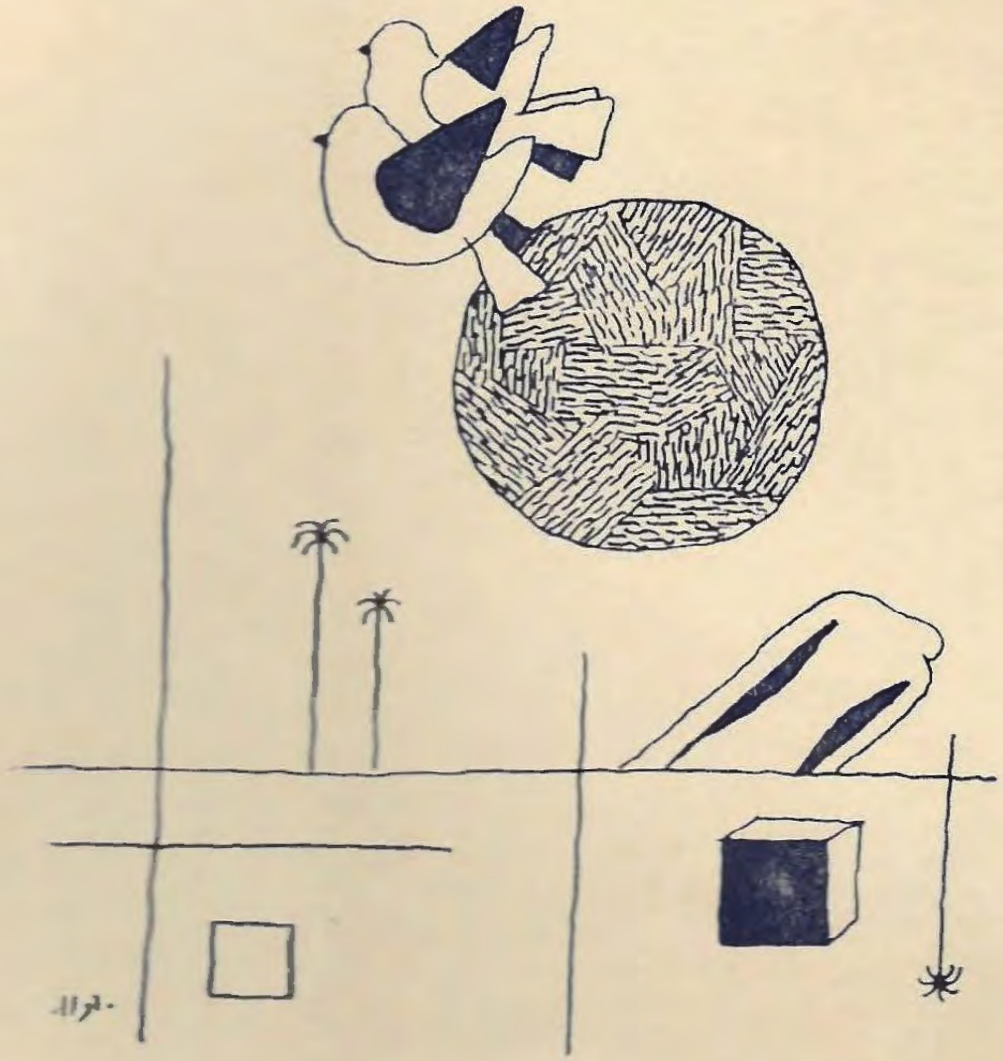

प्रकृति की गोद से

तप:पूत अक्सर प्राकृतिक श्रीशोभा के मध्य मौन रहते हुए भी प्रकृति से पल-पल साक्षात्कार करते रहते हैं। तपसी जी यदि काव्य के प्रणेता होवें तो उनके शब्दोच्चारण वह-वह कहते जाते हैं, जो–जो प्रकृति मंत्रमुग्ध हो उनसे बतियाती है। ऐसे समय लगता है कि प्रकृति की गोद में तपस्यारत तपसी जो कुछ बोल/लिख रहे हैं वे सभी अक्षर/स्वर/मात्रा/ शब्द मधुर अनुगूंजें है–प्रकृति की गोद से नि:सृत होती हुई-सी।

नयन नीर

प्रभु के प्रति किस में ?
इसमें .....,
प्रीति का वास है
प्रतीति पास है
पर्याप्त है यह,
अब इसकी
नयन-ज्योति
चली भी जाय !
कोई चिन्ता नहीं
किन्तु
कहीं ऐसा न हो,
..... कि
प्रभु स्तुति से पूर्व
प्रभु नुति से पूर्व
इसके
करुण-नयनों में
नीर कम पड़ जाय

चरण पीर

पथ और पाथेय का
परिचय क्या दूँ
प्रायः परिचित हैं
नियम से जो
आदेय दिखाते,
पथ अभी
भले ही दूर हो अपरिमित...!
परवाह नहीं
किन्तु,
कहीं ऐसा न हो
कि
आस्था के गवाक्ष में से
गन्तव्य दिख जाने से
इसके
तरुण चरणों की
पीर कम पड़ जाय।

छुवन

प्रकृति-प्रमदा
प्रेम वश
पुरुष से लिपटी
हरिताभ हँस पड़ी
प्रणय कली
महकी गन्ध भरी
खुल-खिल पड़ी
रक्ताभ लस रही
किन्तु !
पुरुष सचेत है
वह डूबा नहीं
प्रकृति जिसमें डूबी है
पुरुष की आँखों में
हीराभ-मिश्रित
नीलाभ बस रही ।

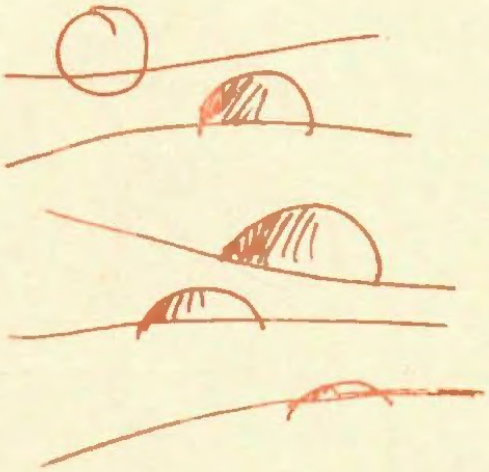

कुटिया ....!

ओरी ! कलि की सृष्टि
कलि से कलुषित
कलंकिनी दृष्टि ।
सदाशंकिनी !
अवगुण-अंकिनी !
कभी कभी तो
गुण का चयन किया कर !
तेरी बंकिम दृष्टि में
केवल अवगुण ही झलकते हैं क्या ?
यहां गुण भी बिखरे हैं
तरतमता हो भले ही
ऐसा कोई जीवन नहीं है
कि
जिसमें
एक भी गुण नहीं मिलता हो
नगर, उपनगर में
पुर, गोपुर में
अभ्रलिहा प्रासाद हो
या कुटिया
जिसके पास
कम से कम एक तो
प्रवेश द्वार
होता अवश्य ।

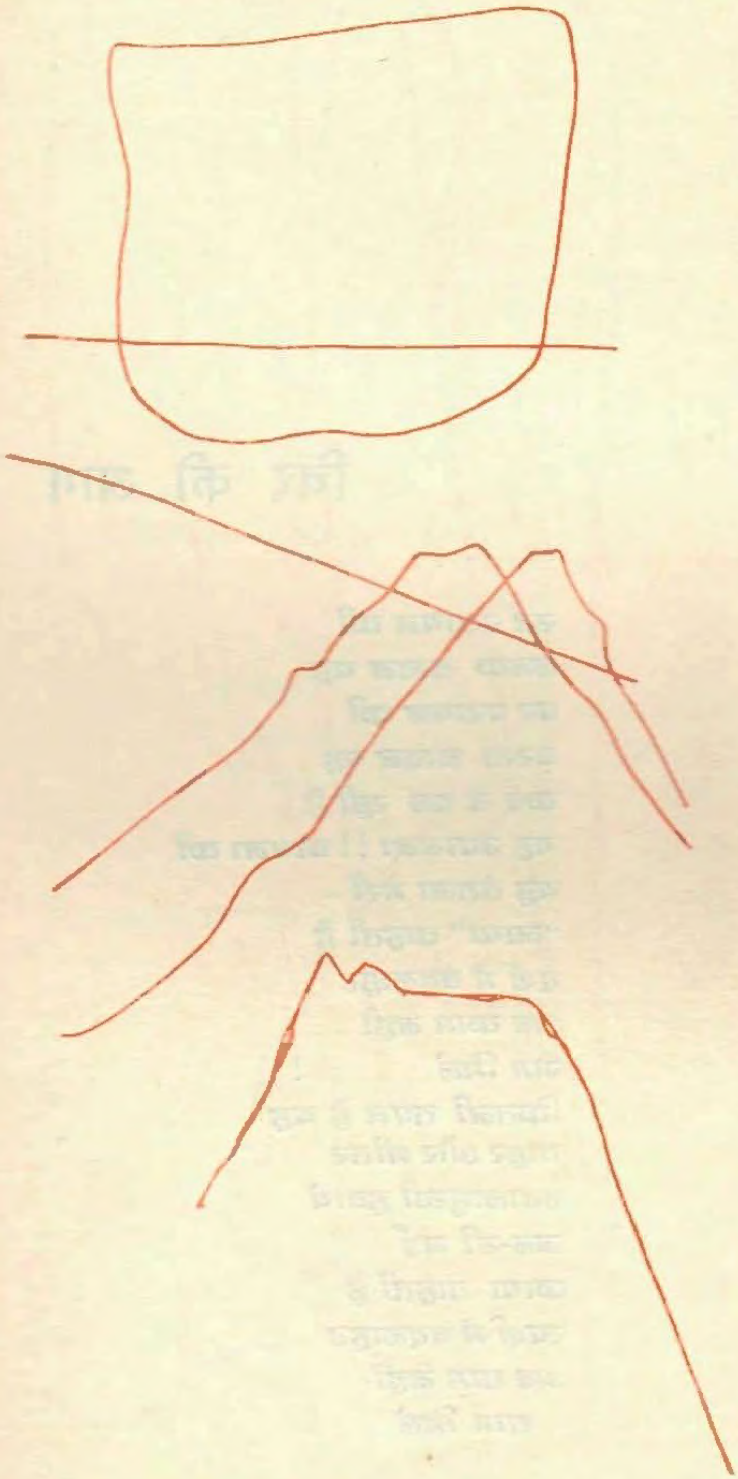

भूखी-भू....!

आज आसमां
काला होने को
राजी नहीं है
मना कर रहा है
और उसमें
पूर्ण रूप से
नीलिमा आई है।
इधर
धरती में धृति नहीं है
धरती चिन्तित है भविष्य क्या होगा?
और इसमें
पीलिमा आ गई है।
कारण बताते
लज्जा आती है और आँखों में गीलिमा आती है
लेखनी से कहलवाता हूँ
मानव-जाति की
नियति में
ढीलिमा आई है

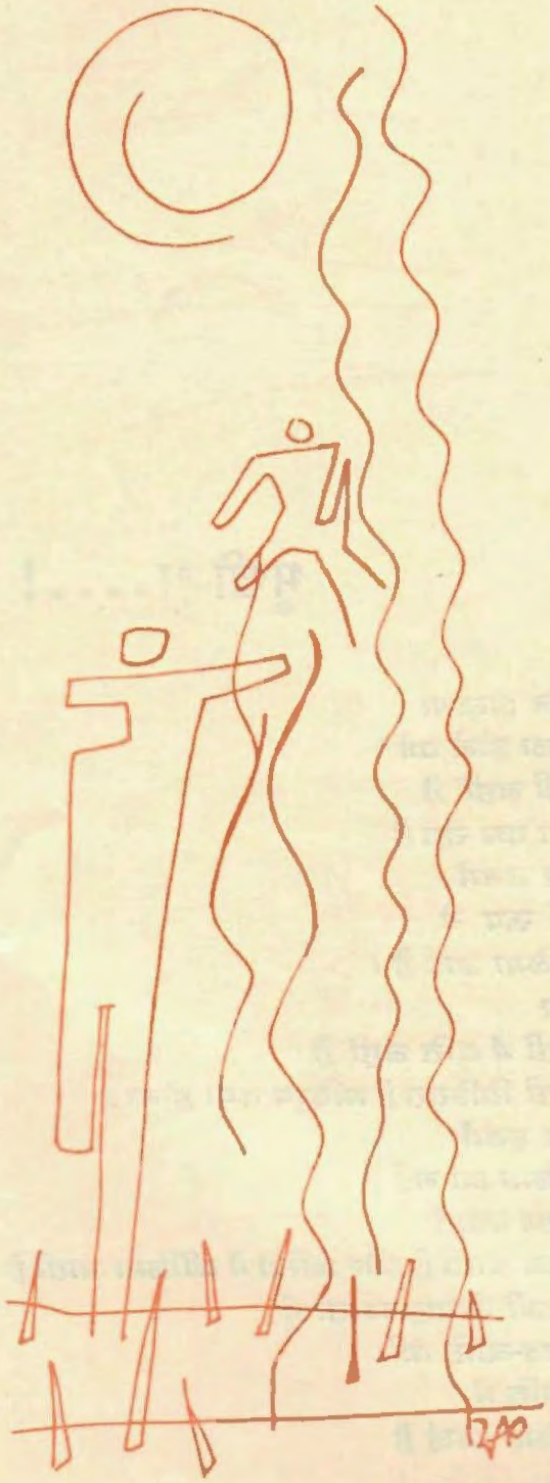

चिर की आग

रस रसायन की
ललक चखन यह
पर परायन की
परख लखन यह
कब से चल रही है
यह उपासना !! वासना की
यह चेतना मेरी -
"जाया" चाहती है
दर्श में बदलाहट
अब काम नहीं
राम मिले..... !
कितनी तपन है यह
बाहर और भीतर
ज्वालामुखी हवायें
जल-सी गईं
काया-चाहती है
स्पर्श में बदलाहट
अब घाम नहीं
धाम मिले..... !

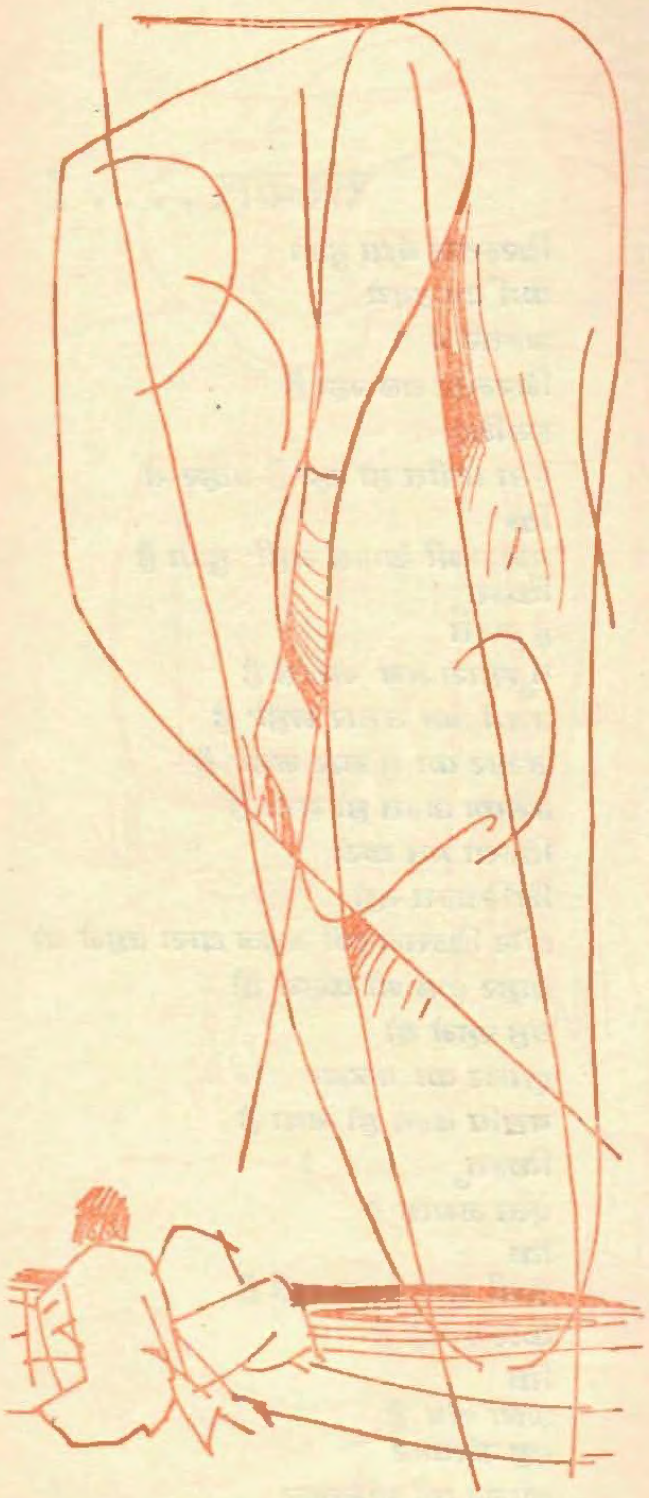

खून की खूबी

आग का योग पाता है जब
शीतल जल भी
धीमे धीमे
जलता जलता.....
उबलता भले ही
किन्तु वह
धधकती आग को
बुझा भी सकता है
किन्तु
मानव का खून ! तुरन्त
खूब उबलता है
कुछ ही प्रतिकूलता में
काबू में नहीं आता
दूसरों को शान्त बनाना तो दूर
शान्त माहौल भी
खौलने लगता है
ज्वालामुखी-सम ।

संस्कार....!

चिरन्तन बँधा हुआ
कर्म का उदय
अन्तर में
निरन्तर चल रहा है
इसलिए
ऐसा प्रतीत हो रहा है बाहर से
कि
मन अभी शान्त नहीं हुआ है
किन्तु !
हे सन्त ..... !
तुम्हारा मन शान्त है
उसमें अब संसार नहीं है
संसार का शृंगार नहीं है
उसका अन्त हो गया है
चिन्ता मत करो
निश्चिन्त रहो
और चिन्तन की सहज धारा बहने दो
बाहर कुछ भी कहने दो
वह रहने दो
झालर का बजना
यद्यपि बन्द हो गया है
किन्तु ..... !
ऐसा लगता है
कि
अभी झालर बज रही है
कारण यह है
कि
अभी शेष है
वह संस्कार
झालर की झनकार..... !

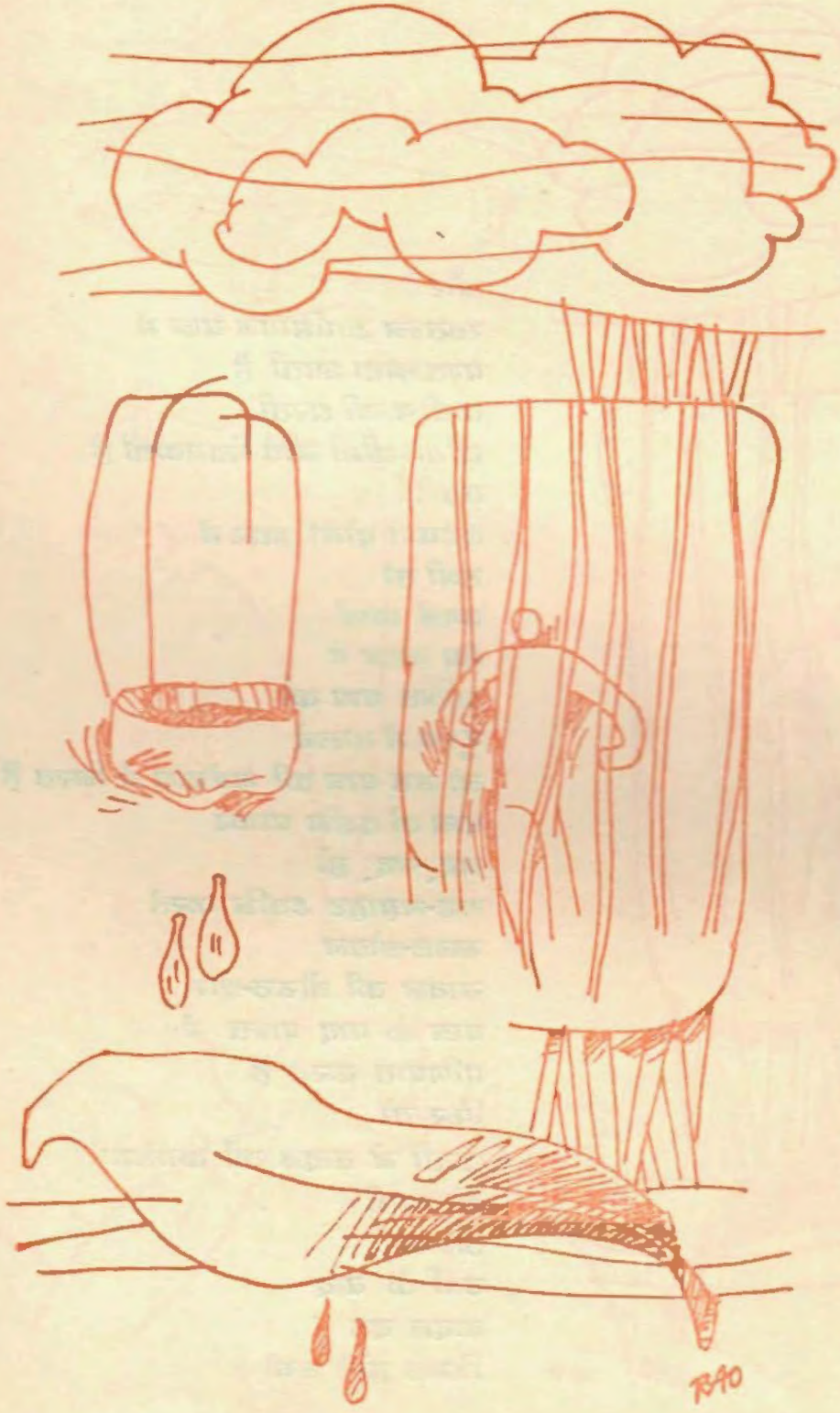

बादल धुले

धरती को प्यास लगी है
नीर की आस जगी है
मुख-पात्र खोला है
कृत संकल्पिता है,
कि
दाता की प्रतीक्षा नहीं करना है
दाता की विशेष समीक्षा नहीं करना है
अपनी-सीमा
अपना आँगन
भूलकर भी नहीं लाँघना है,
क्योंकि
पात्र की दीनता
निरभिमान दाता में
मान का आविर्भाव कराती है
पाप की पालड़ी भारी पड़ती है,

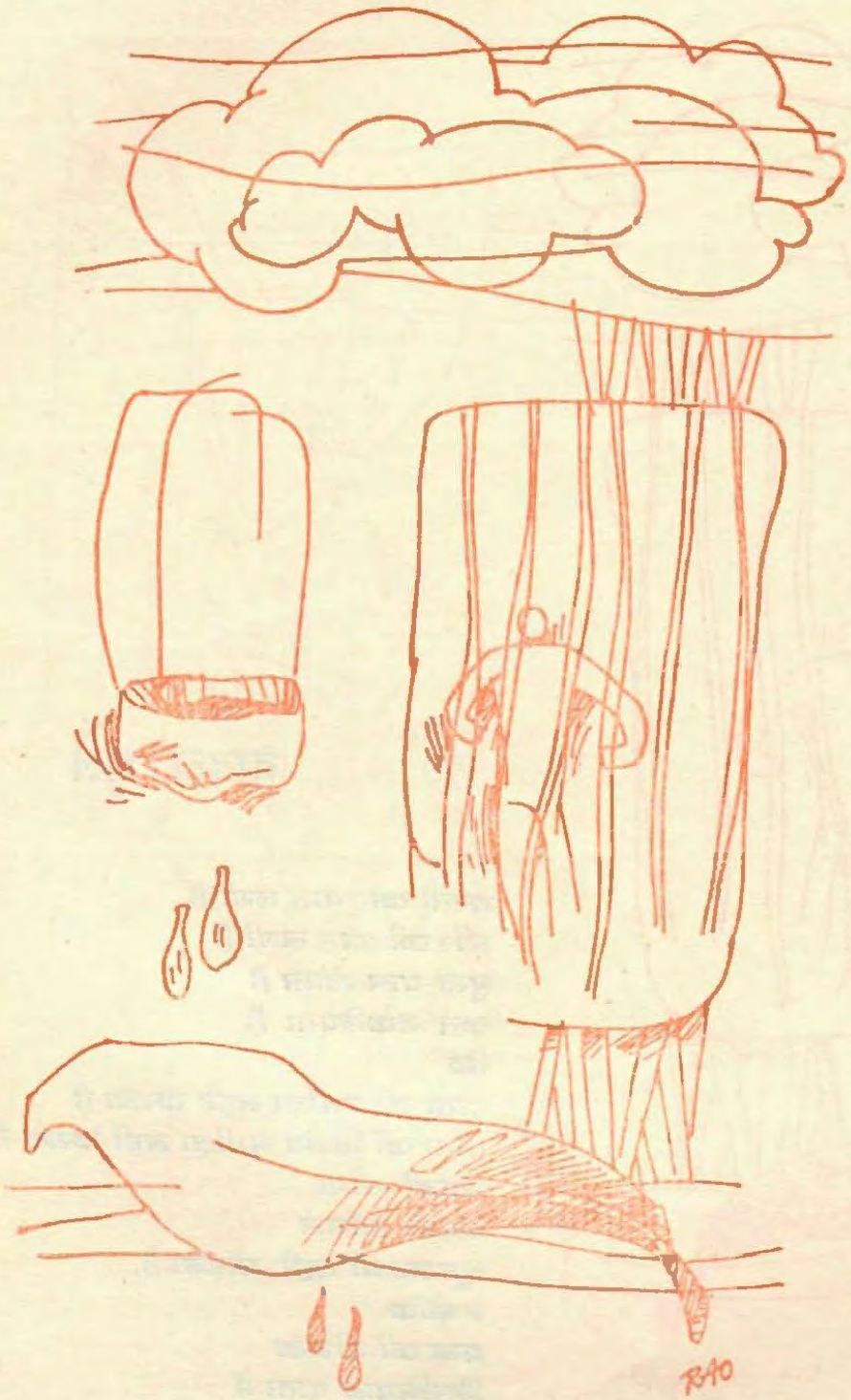

और !
स्वतन्त्र स्वाभिमान पात्र में
परतन्त्रता आती है
कर्त्तव्य की धरती
धीमी-धीमी नीचे खिसकती है,
तब !
लटकते दोनों अधर में
तभी तो
काले काले
मेघ सघन ये
अर्जित पाप को
पुण्य में ढालने
जो सत् पात्र की गवेषणा में निरत हैं
पात्र के दर्शन पाकर
गद्-गद् हो
गड़-गड़ाहट ध्वनि करते
सजल-लोचन
सावन की चौसठ-धार
पात्र के पाद प्रान्त में
प्रणिपात करते हैं
फिर तो
धरती ने बादल की कालिमा
धो डाली
अन्यथा
वर्षा के बाद
बादल दल
विमल होते क्यों ?

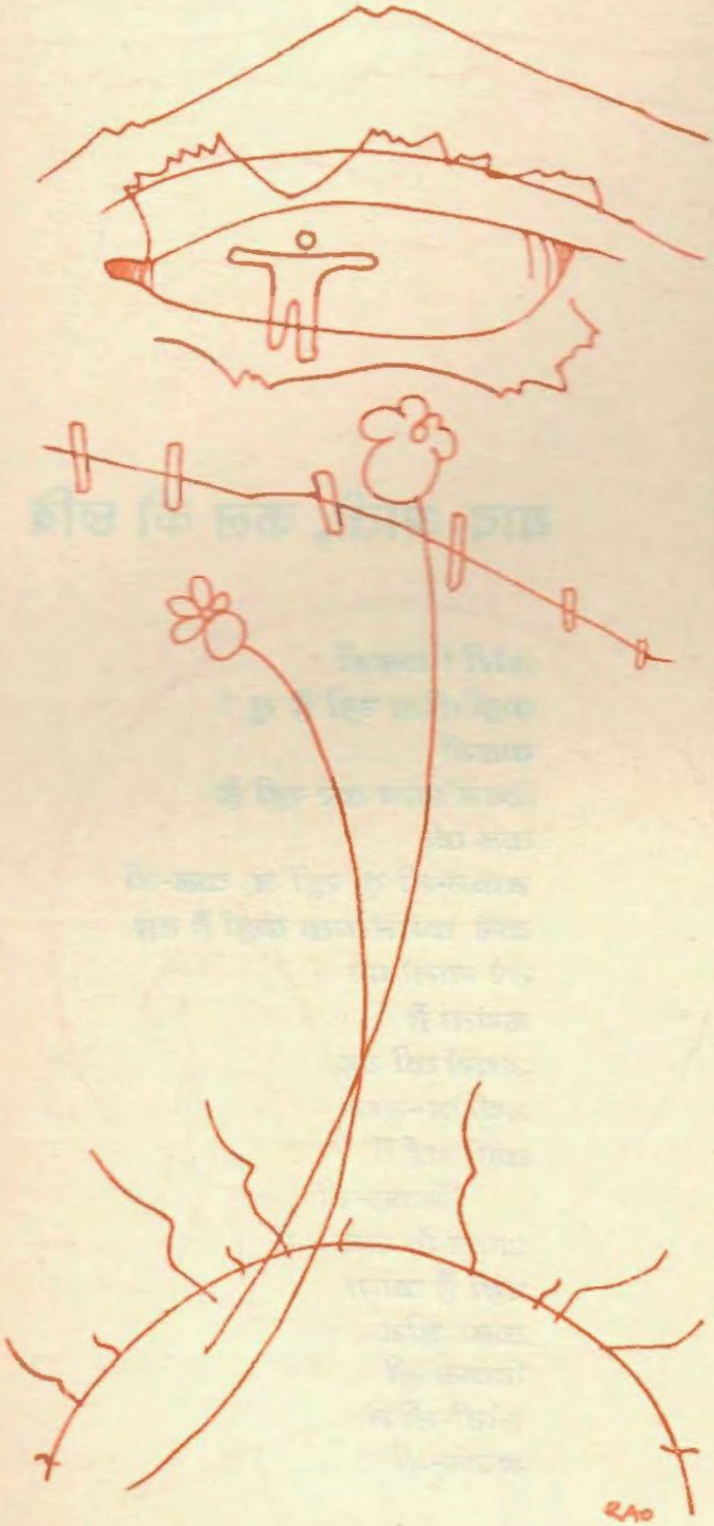

बोलती मुस्कान !!

धरती से फूट रहा है
नव जात है
और पौधा
धरती से पूछ रहा है
कि
यह आसमान को कब छुयेगा
छू ... सकेगा क्या नहीं ?
तूने पकड़ा है
गोद में ले रखा है इसे
छोड़ दे... ..... !
इसका विकास रुका है
ओ ! ..... माँ ..... !
माँ की मुस्कान बोलती है
भावना फलीभूत हो बेटा ..... !
आस पूरी हो !
किन्तु
आसमान को छूना .....
आसान नहीं है
मेरे अन्दर उतर कर
जब छुयेगा
गहन गहराइयाँ
तब ..... कहीं ..... संभव हो
आसमान को छूना
आसान नहीं है ।

याद आती, कल की छबि

ओरी ! कलसी
कहाँ दीख रही है तू !
कलसी .....
केवल आज कर रही है
कल की
नकल-सी तू रही न, कल-सी
कल कमनीयता कहाँ है वह
तेरे गालों पर
लगता है
अधरों की वह
मधुरिम-सुधा
कहीं गई है .....
निकल-सी
अक्ल के अभाव में
पड़ी है काया
कला हीन
विकल सी ..... !
छोटी-सी ले
शकल-सी ।

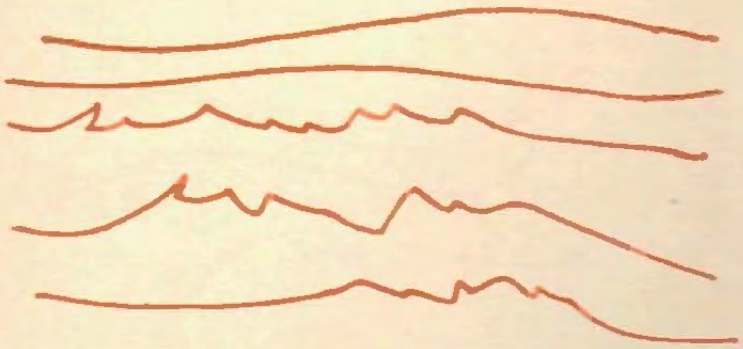

सो जाने दो

ओरी ! ललित लीलावती
चलित-शीलावती
भ्रमित चेतना !
जब से तेरा
क्रीडास्थल
बाहर से भीतर आ बना है
तब से
पुरुष की पीडा
और घनीभूत हुई है
मानो मस्तिष्क में
काट रहा हो
पडा पडा एक कीडा
इसलिए निवेदन है
अब पुरुष को
सानन्द अनन्तकाल तक
सो जाने दो !

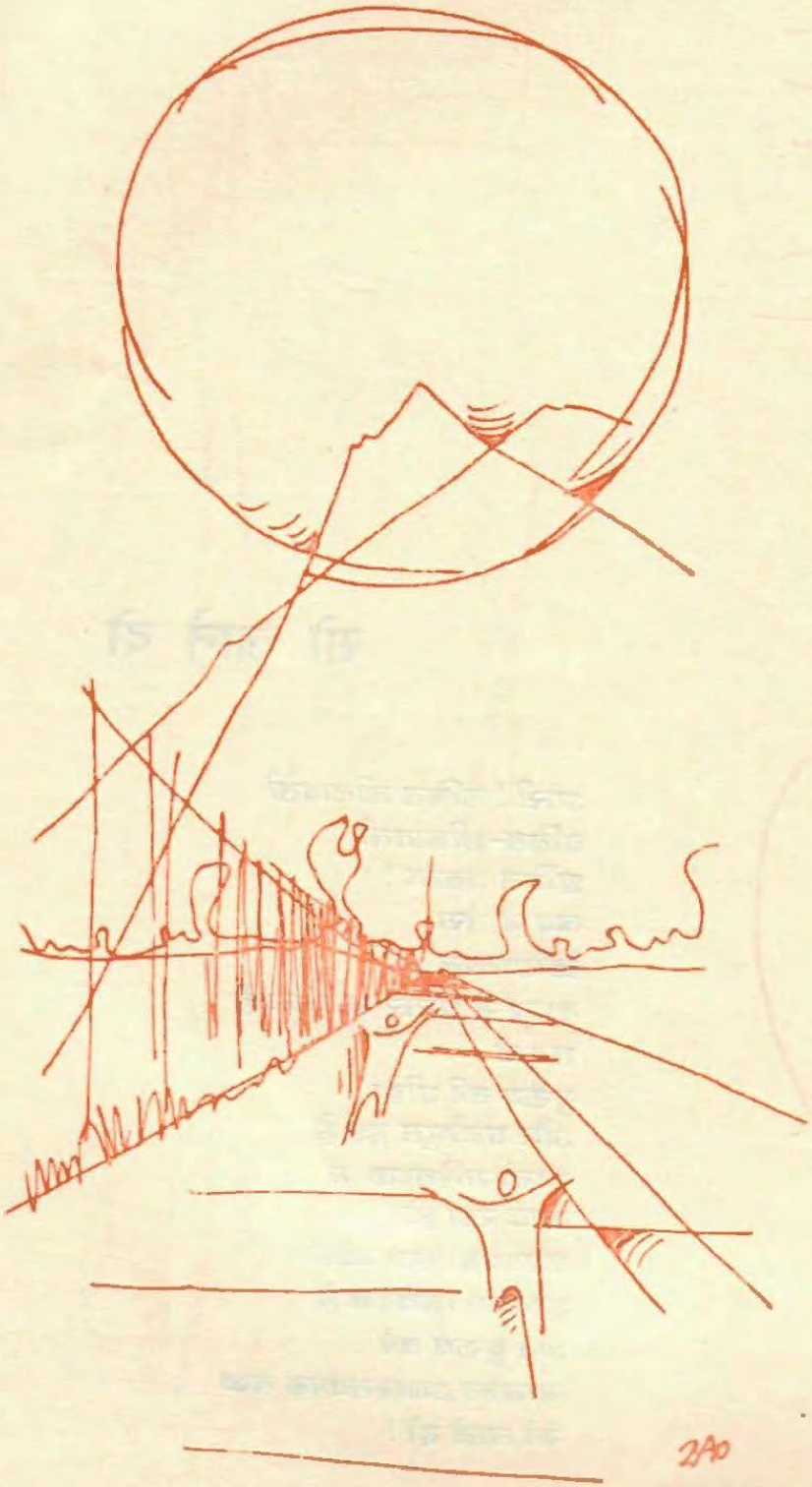

उषा में नशा

उषाकाल में
उतावली से
तृषा काय की
बिना बुझाये
कहाँ भाग रहा है तू ?
मुझे पूछते हो तुम
उषा से नशा करने वालो ... ...
निशा में मृषा चरने वालो..... !
यह रहस्य अज्ञात होना
दशा पागल की है
दिशा चाहते हो
पाना चाहते हो
सही दशा वह !
जरा सुनो !

स्वयं यह
उषा भाग रही है
जिसके पीछे-पीछे
निशा जाग रही है
जिसका दर्शन..... .
"यह" नहीं चाहता अब..... !

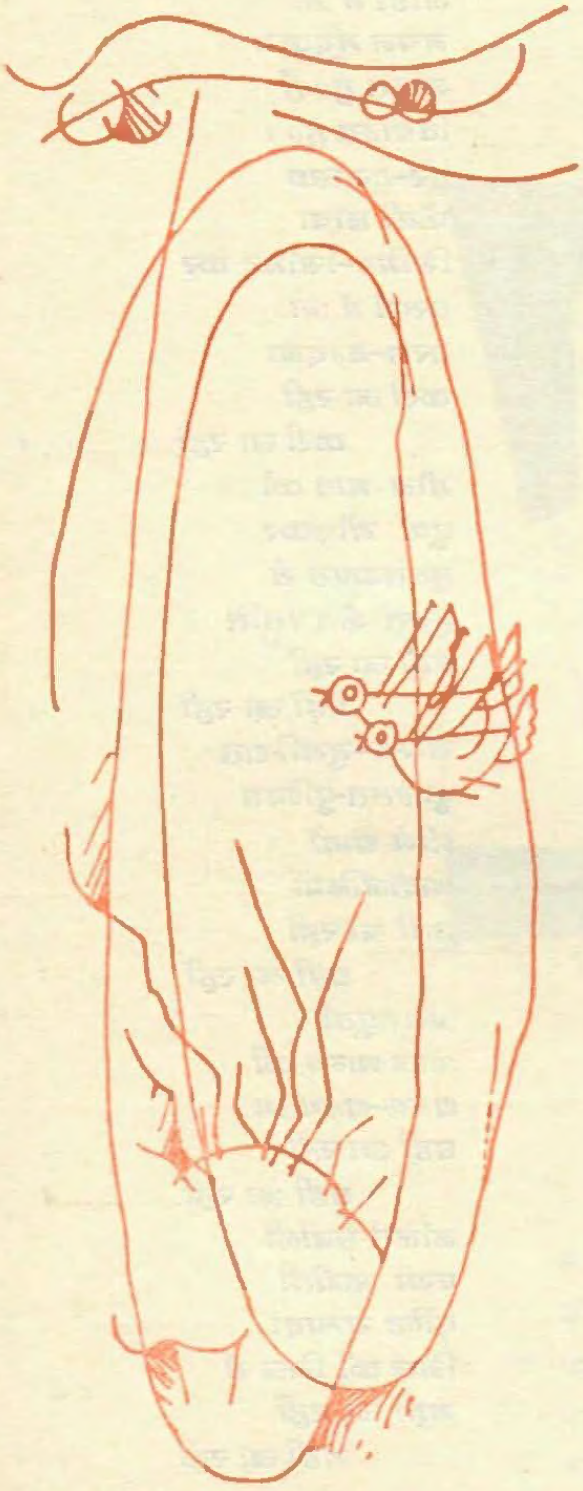

विकल्प-पंछी

चिर से छाई
तामसता की
घनी निशा वह
महा भयावह
पीठ दिखाती
भाग रही है ।
जाग रही है
शनैः शनैः सो
स्वर्णाभा-सी
सौम्य सुन्दरा
काम्य मधुरिमा
साम्य अरुणिमा
ध्रुव की ओर
बढ़ी जा रही
बढ़ी जा रही..... .... ।
शनैः शनैः बस !
शैल-समुन्नत
चढ़ी जा रही ...
चढ़ी जा रही ..... ।
तेज ध्यान में
तेज ज्ञान में
चरम वेग से
ढली जा रही
ढली जा रही..... ।

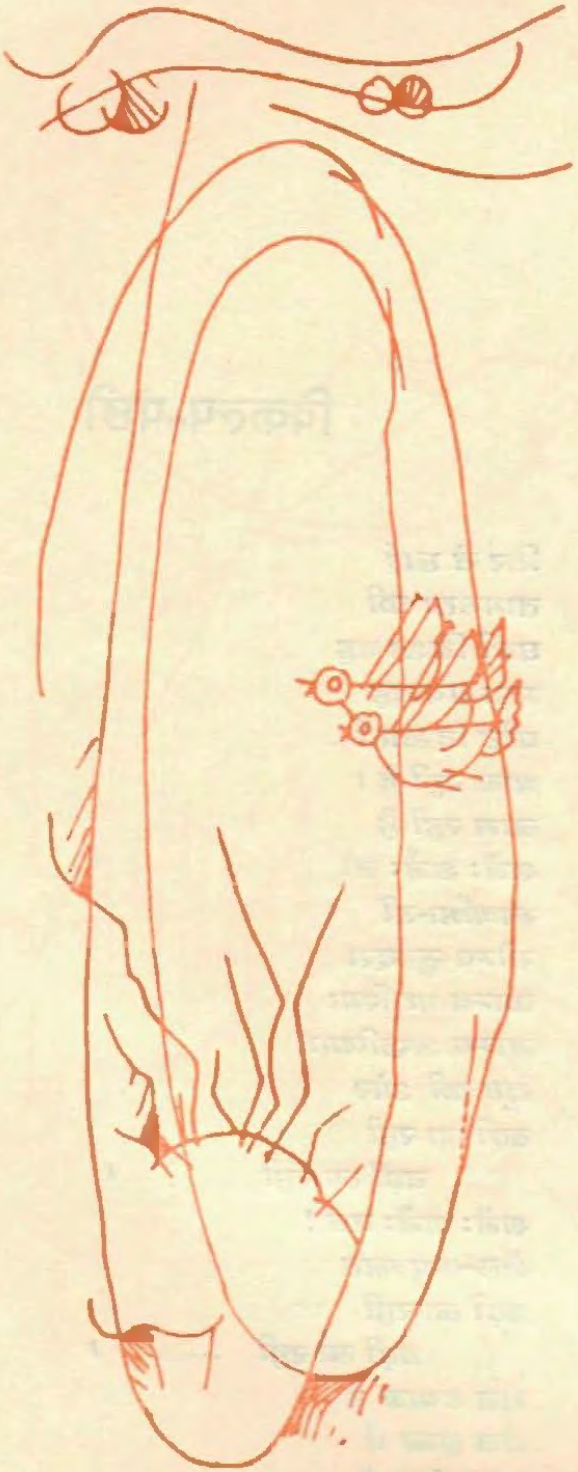

स्वैर विहारी
विकल्प पंक्षी
निजी-निजी उन
नीड़ों में आ
नयन मूँदकर
शान्त हुए हैं
विश्रान्त हुए।
दूर-दूर तक
फैली छाया
सिमिट-सिमिट कर
चरणों में आ
चरण-वन्दना
करी जा रही
करी जा रही.....।
मौन-भाव को
पूर्ण मौणकर
मुक्तकण्ठ से
मुक्त शैव स्तुति
पढ़ी जा रही
पढ़ी जा रही .....।
सौम्य-सुगन्धित
फुल्लित-पुष्पित
भीगे भावों
श्रद्धांजलियाँ
चढ़ी जा रहीं
चढ़ी जा रहीं.....।
अश्रुतपूर्वा
आज भाग्य की
धन्य-धन्यतम
घड़ी आ रही
घड़ी आ रही.....।
ललित छबीली
परम सजीली
दृष्टि सम्पदा
निज की निज में
गढ़ी जा रही
गढ़ी जा रही .....।

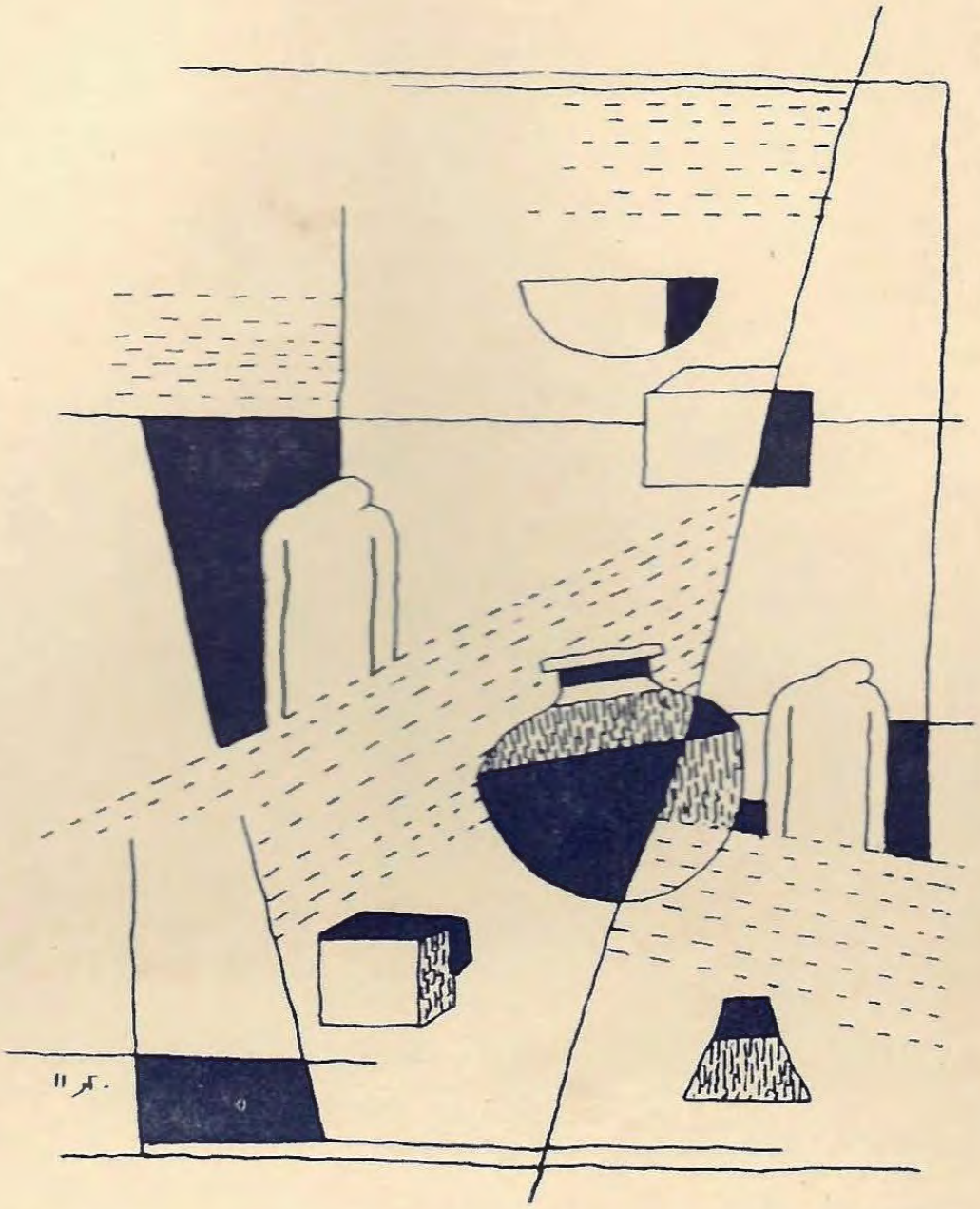

लहराती लहरें

सरिताएँ अपने स्व को समेटकर अर्पित कर देती हैं सागर के चरणों में। फलतः सागर की हर लहर में एक लहर सरिता की भी समाई हुई होती है। सागरों की लहरें ऊँचाई तक जाकर चन्द्रमा को छू लेने का सुन्दर उपक्रम करती हैं। नदी का समर्पण यहीं सार्थक होता है, जब उसकी सामान्य लहर समुद्र की पर्वत-वत् लहर के साथ उच्चता की ओर होती है। इस खण्ड में दी गई काव्य-सरिता की लहरें भी मुनि के मानस से उठकर अध्यात्म की ऊँचाइयां स्पर्श करती हैं।

भोर की ओर

कब से आ रहा हूँ
अपार सागर में
तैरता तैरता
हाथ भर आये हैं
श्लथ !
नैर्बल्य की अनुभूति
अब ओर नहीं .....
... छोर मिले ! !
चारों ओर .....
... भ्रमर-तिमिर
फैला है
फैलता जा रहा है
चरण चल रहे
साथ आस्था है
साफ रास्ता है
पर !
धृति कहती है
अब घोर नहीं
... भोर मिले ! ! !

तरल तरंग

कुछ अतीत में
बुलाती है मति को
और सहसा
उतावली सी
झुलक आती है स्मृति
संयत-मति में
विस्मृता मृता भी
अमृता सी कुछ ..... !
और शान्त-सरवर
लहरदार हो उठता है
मौन-परिसर
तरल-दार हो उठता है
पल भर के लिए
सरस-स्वाद-सवेदन
सरल-सार ! सो लुटता है
और बदले में ..... !
गरल-दार हो उठता है ! !

क्षणिकायें....!

हम तट पर ठहरे
आ रही हैं हमारे
स्वागत के लिए
..... साथ लिए
हास्य मुखी मालायें
लहरों पर लहरें
गरदन झुकी हमारी
झुकी ही रह गयी
मन की आस मन में
रुकी रह गई
पता नहीं चला
कहाँ वह गई
पल भर में
निडर होकर हम भी
खतरे से खतरे
गहरे से गहरे
पानी में
उतरे ..... उतरते ही गये
और हमने पायी
चारों ओर जलीय सत्ता .....!
धीमी-धीमी श्वांस भरती
हमें ताक रही चाव से
वह हमें रुचती नहीं
और हम
खाली हाथ लौटते-लौटते
यकायक सुनते हैं
कुछ सूक्तियाँ
कि

प्रकृति को मत पकड़ो
पर ! परखो उसे
वे क्षणिकाएँ हैं
पकड़ में नहीं आतीं
भ्रम विभ्रम की जनिकायें हैं
तुम पुरुष हो, पुरुषार्थ करो
कभी न होना
किसी से प्रभावित
भावित सत् से होना "जो है"
इसी विधि से कई पुरुष विगत में
उस पार उतरे हैं
और निराशा के बदले आज
गहन-गंभीरता से
भर-भर ..... भरे जा रहे
हमारे ये चेहरे।

सागर तट

अज्ञात पुरुष
सागर तट पर
निर्निमेष !
निहार रहा है
वस्तु स्वरूप
रूप-लावण्य
ज्ञात करना चाह रहा है
और ..... वह ..... स्वयं
उधर से ..... ।
ठहर-ठहर कर
गहर-गहर कर
अपार-सागर
रहस्यमय गाथा
गाता ..... गाता
जा रहा है ..... जा रहा है
लहर-लहर चुम
तट तक लाकर
लौट रहा है ..... लौट रहा है
लहरों को सुड़कर कहां निहारता है ?
कब निहारा ?
लहर-लहर है
नहीं नहर है
नहरों में लहर है
लहरों में नहर नहीं
लहर जहर है
कहाँ खबर है ?
किसे खबर है ?

उसी जहर से
अपना गागर
भरता जाता..... भरता जाता
यह संसार !
प्रहर-प्रहर पर
मरता जाता मरता जाता यह संसार
दुःख से पीड़ित
आह ! भरता
मैं हूँ शाश्वत् सत्ता
अविनश्वर जल का आकार ।
पर
प्रायः अज्ञात ।
मेरा ज्ञात होना ही
मोक्ष है अक्षय.....
मोह का क्षय है ।
अब तो ज्ञात कर ले
कम से कम
अपने पर
महर-महर कर ले
हे अज्ञात पुरुष !
अपने पर
महर-महर कर ले

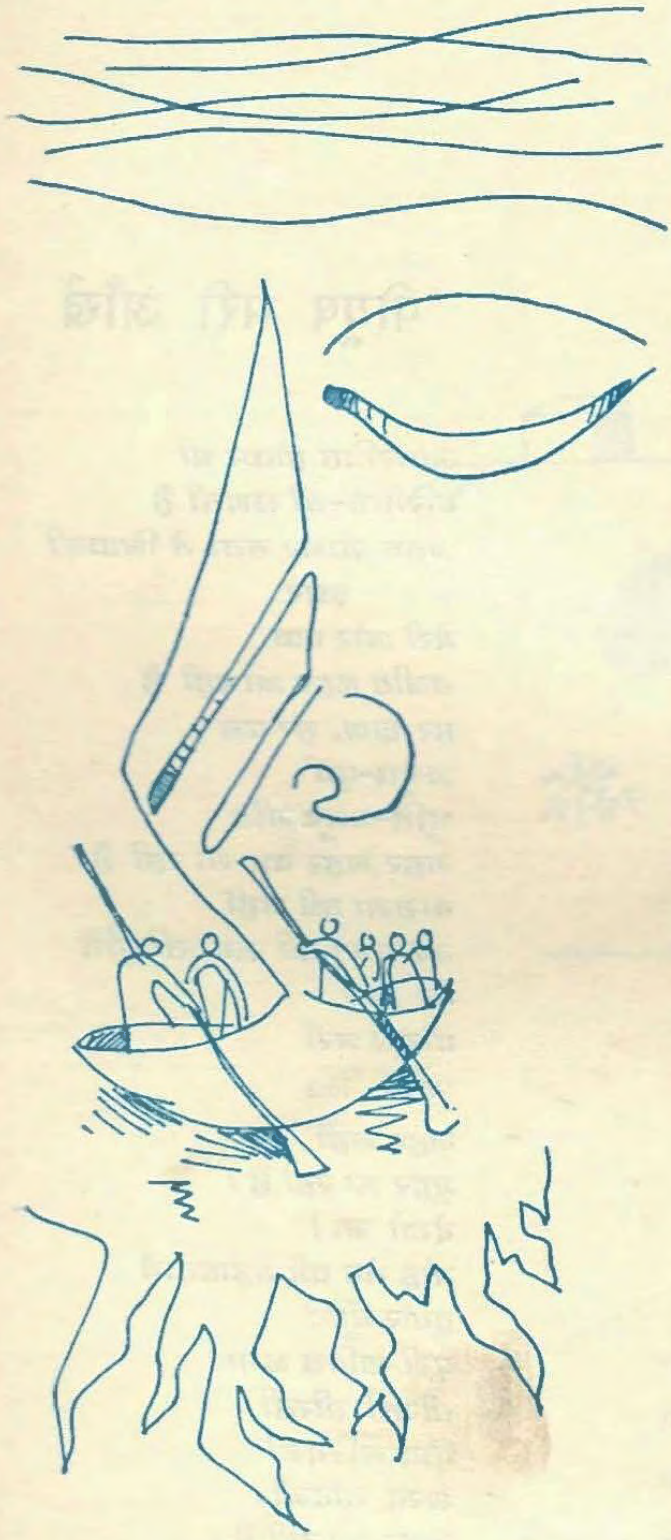

छले छाँव में

काया की नाव में पले हैं
माया की छाँव में छले हैं
हम तो ..... मिरे
अनजान ठहरे
इतने विचार
कहाँ हों गहरे
नहरों से पूछें
या लहरों से
कहाँ से आती
कहाँ जाती
..... ये लहरें ?
लहरों पर लहरें हैं
क्या ? लहरों में लहरें ।

पीयूष भरी आँखें

अपरिचित होकर भी
परिचित-सी लगती है
अतल सागर सत्ता से निकली
इधर .....
मेरी ओर एक
सजीव लहर आ रही है
हर क्षण, हर पल
अश्रुत-पूर्व
श्रुति-मधुर गीत
गहर गहर कर गा रही है
वासना की नहीं
उपासना की रूपवती मूर्ति
मेरे लिए
पीयूष भरी
आँखें लिए
जहर नहीं
मुहर ला रही है।
देखो ना!
मोह मेघ की महाघटायें
दुर्वार घूँघटें
पूरी शक्ति लगा
चीरती-चीरती
चिदानन्दिनी
शरद चाँदनी
नजर आ रही है।

खण्ड तीन

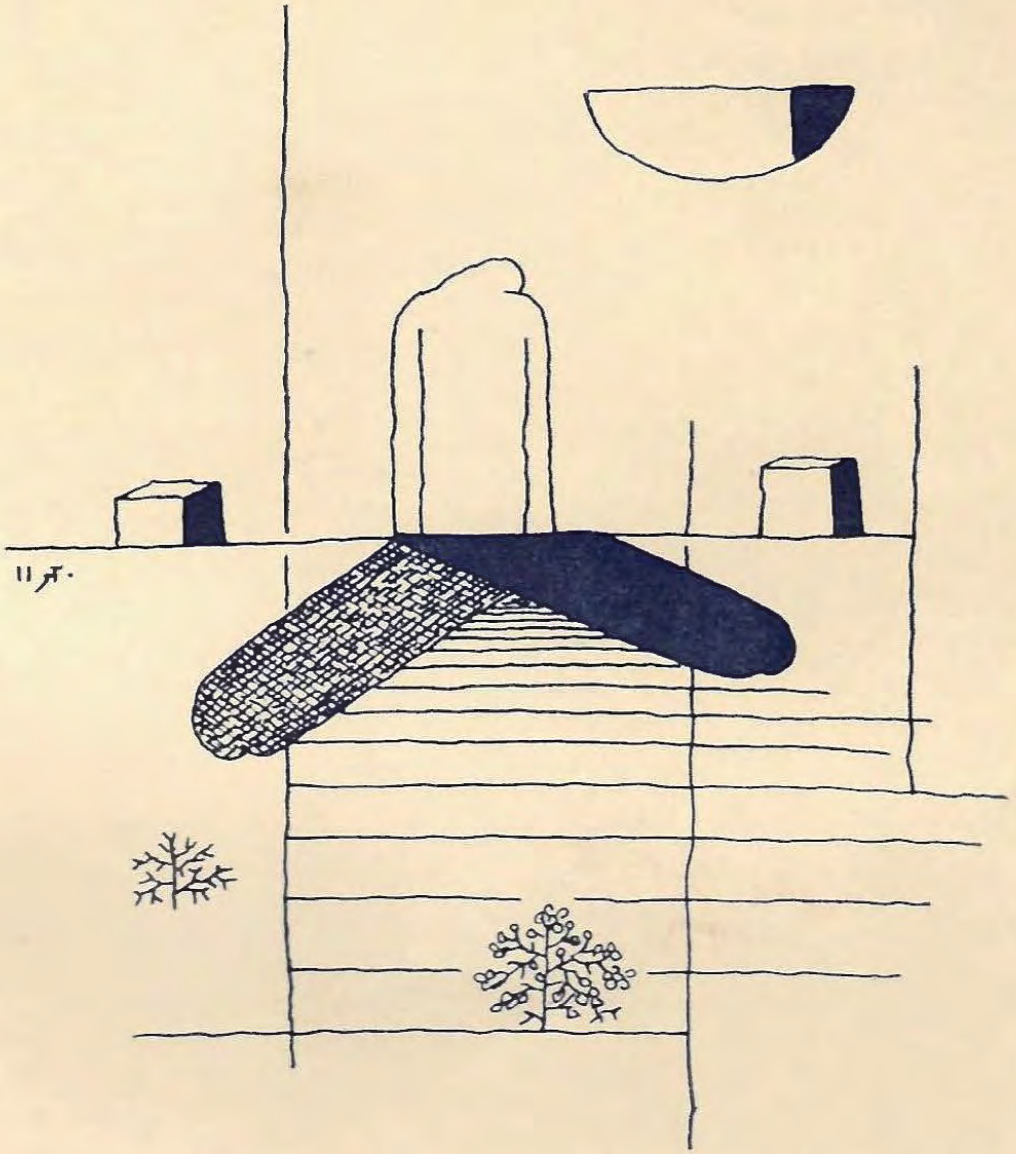

चेतना के गहराव में

जैसा शीर्षक से ध्वनित होता है कि रचना यहां चेतना की गहराई से की गई है–ऐसा नहीं है; वह तो हर खण्ड में गहराई से ही लिखी गयी है। यहां 'चेतना के गहराव में' शीर्षक उस चेतना और उस गहराई का ध्वनि-संकेत कर रहा है जो पाठकों के पास होकर भी नहीं है। पाठक सतही दृष्टि न डालकर चेतना की गहराई तक देखें–वांचें/गुनें–संकेत यह है। कविताएँ तो उस गहराई को स्पर्श करने में समर्थ हैं ही।

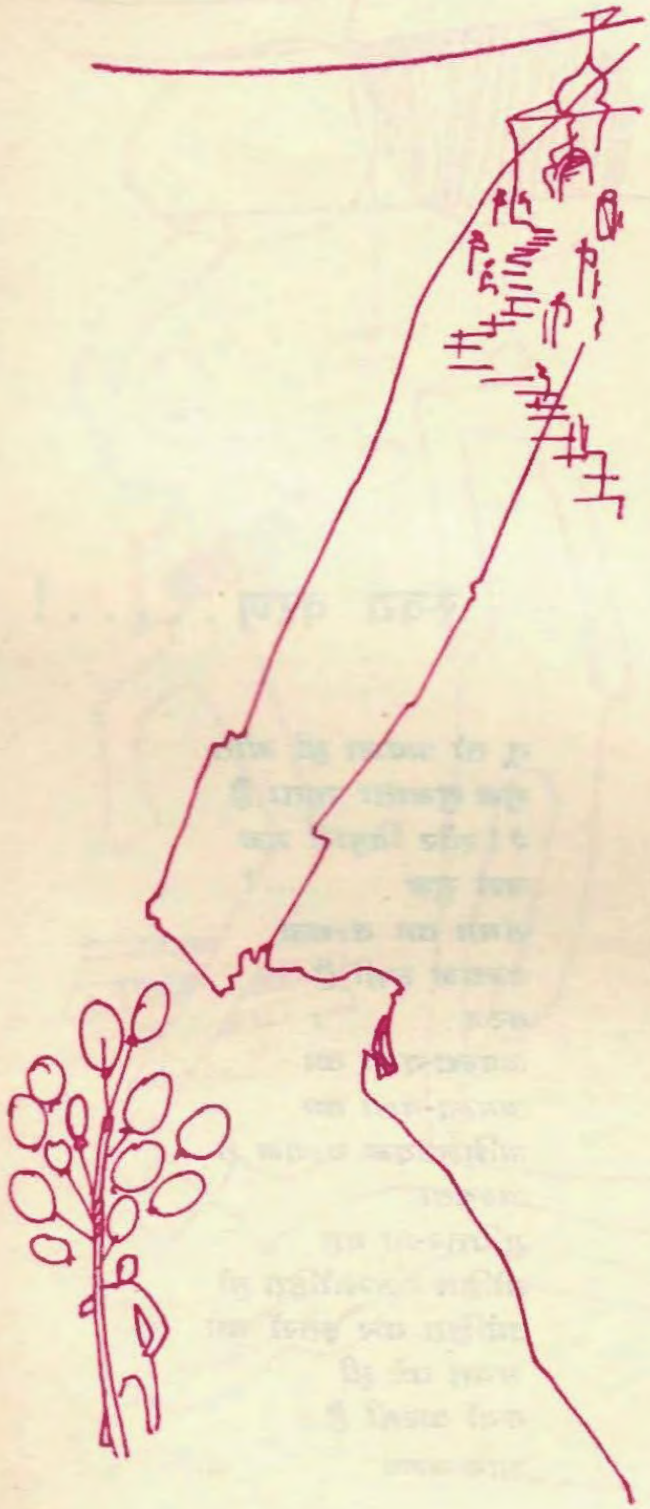

कब भूलूँ सब ?

स्वर्गीय भुक्ति नहीं
पार्थिव शक्ति नहीं
ऐसी एक युक्ति चाहिए
बार-बार ही नहीं
एक बार भी अब !
बाहर नहीं आ पाऊँ
निशि-दिन रमण करूँ
अपने में
द्वैत की नहीं
अद्वैत की भुक्ति चाहिए
आभरण से
आवरण से
चिरकाल तक
मुक्ति चाहिए
ओ ! परम सत्ते !
अनन्तशक्ति लिए
निगूढ़ में बैठी
विलम्ब नहीं अब
अविलम्ब !
निरी-निरावरण की
व्यक्ति चाहिए
भावी भटकन की
कांक्षायें-कुण्ठायें
डाकिनी सम्मुख न आयें
विगत वनी में रहती
पिशाचनी का
मन में स्मरण नहीं आए
स्मरण शक्ति नहीं
विस्मरण की
शक्ति चाहिये

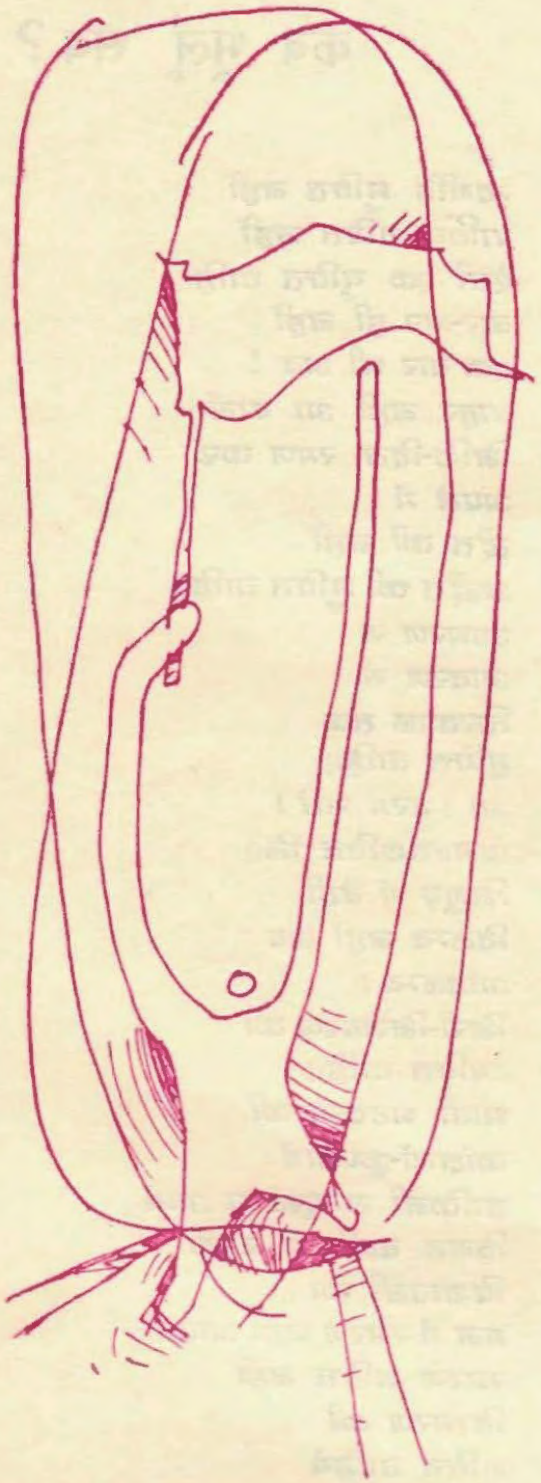

स्वयं वरण . . . . . !

तू तो अपना ही गीत
गुन गुनाता रहता है
रे ! स्वैर विहारी मन
जरा सुन ...... !
संयम का बन्धन
बन्धन नहीं है
वरण .... ।
अबन्ध-दशा का
अमन्द-यशा का
अभिनन्दन वन्दन है
अन्यथा
मुक्ति-सा वह
मोहित / सम्मोहित हो
उपेक्षित कर इतरों को
सयत को ही
क्यों करती है ?
स्वयं वरण.......... ।

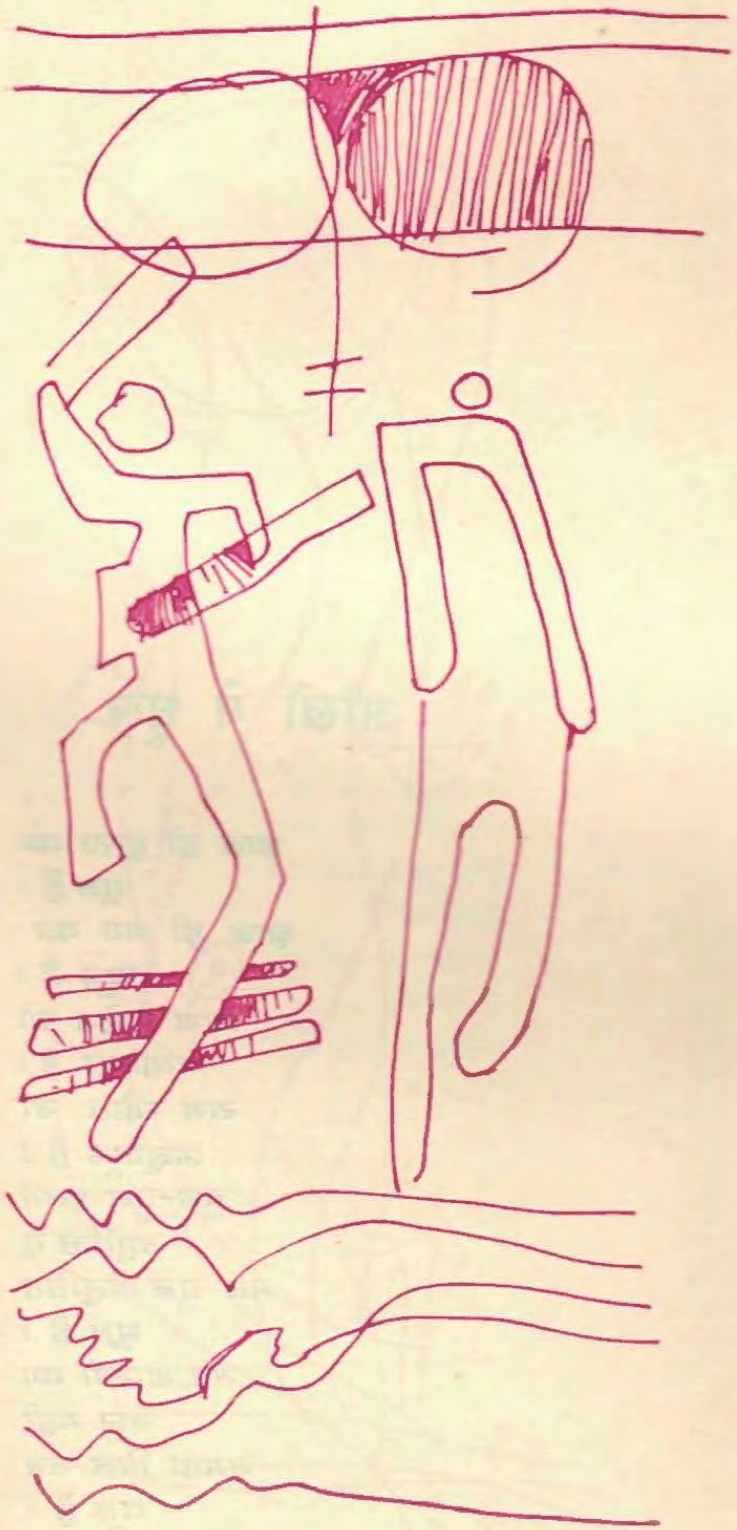

तुम कैसे पागल हो ?

रेत-रेतिल से नहीं
रे ! तिल से
तेल निकल सकता है
निकलता ही है
विधिवत् निकालने से

नीर-मन्थन से नहीं
विनीत-नवनीत
क्षीर मन्थन से
निकल सकता है
निकलता ही है
विधिवत् निकालने से

ये सब नीतियाँ
सबको ज्ञात हैं
किन्तु हित क्या है ?
अहित क्या है ?
हित किस में निहित है
कहाँ ज्ञात है ? किसे ज्ञात है ?
मानो ज्ञात भी हो तुम्हें
शाब्दिक मात्र ..... ।
अन्यथा
अहित पन्थ के पथिक
कैसे बने रहे तो तुम !
निज को तज
जड़ का मन्थन करते हो
तुम कैसे पागल हो ?
तुम कैसे "पाग" लहो ।

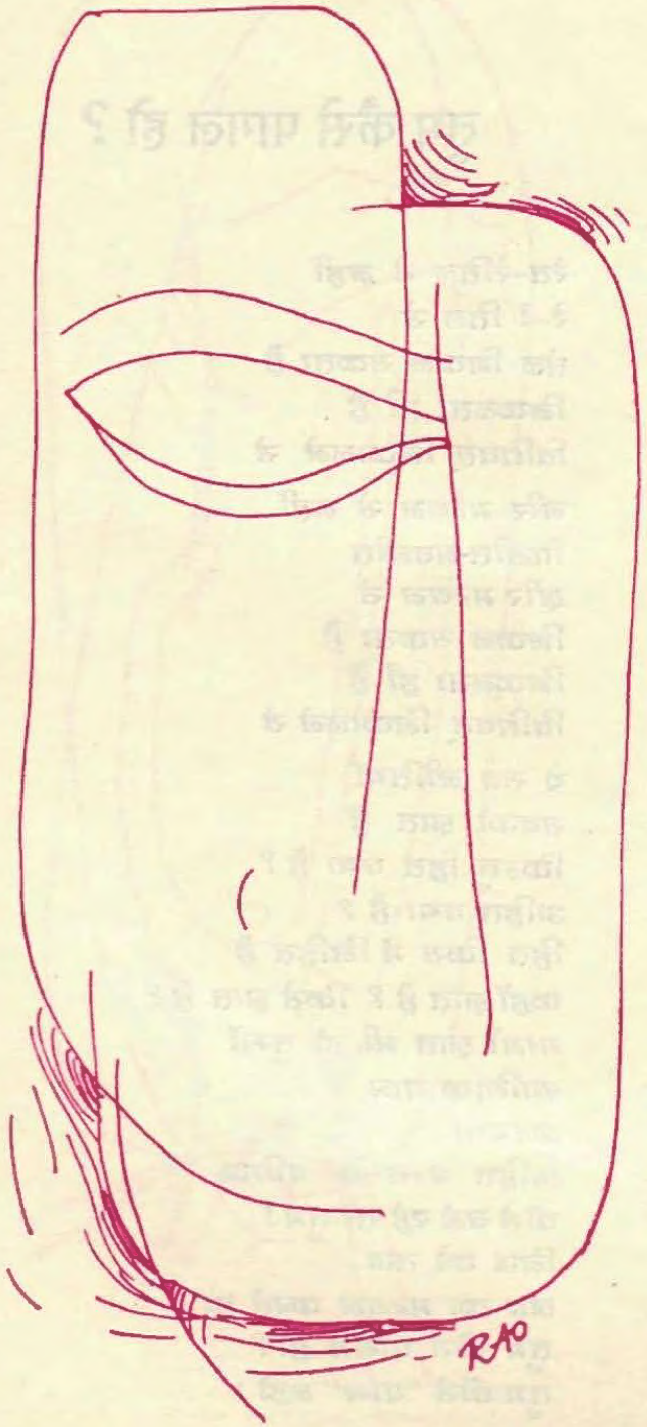

आँखों में धूल ....!

ज्ञान ही दुःख का
.... मूल है ।
ज्ञान ही भव का
.... कूल है ।
राग सहित सो
प्रतिकूल है ।
राग रहित सो
अनुकूल है !
चुन-चुन इनमें
.... समुचित तू
मत चुन अनुचित
भूल है ।
सब शास्त्रों का
सार यही
समता बिन सब
धूल है ।

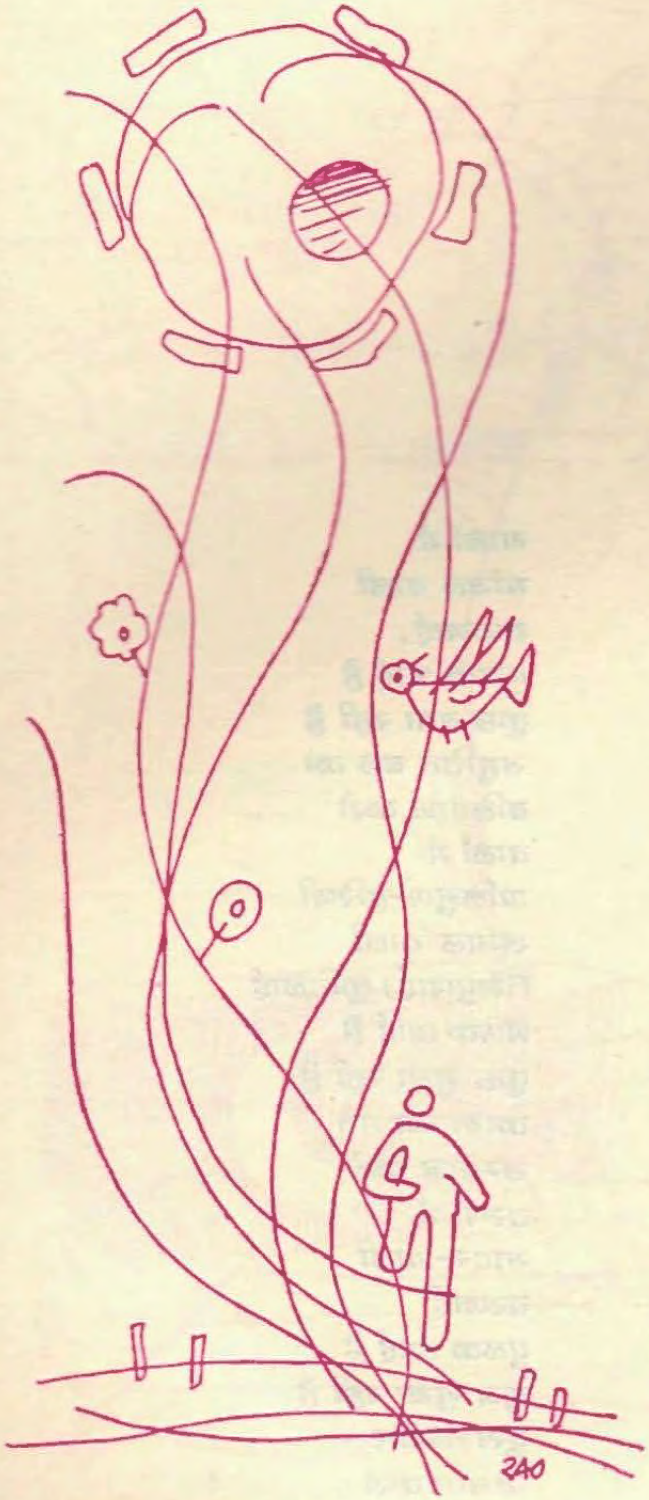

पता तू बता . . . !

उस सत्ता का
किस तरह
अतिशय बता दूँ
परिचय पता दूँ
आँखों मे
काजल काली
करुणाई
छलक आई है
कुछ सिखा रही है
चेतन की तुम
पहिचान करो !
अधरों में
प्रांजल-लाली
अरुणाई
झलक आई है
कुछ दिखा रही है
समता का नित
अनुपान करो . . . . . !

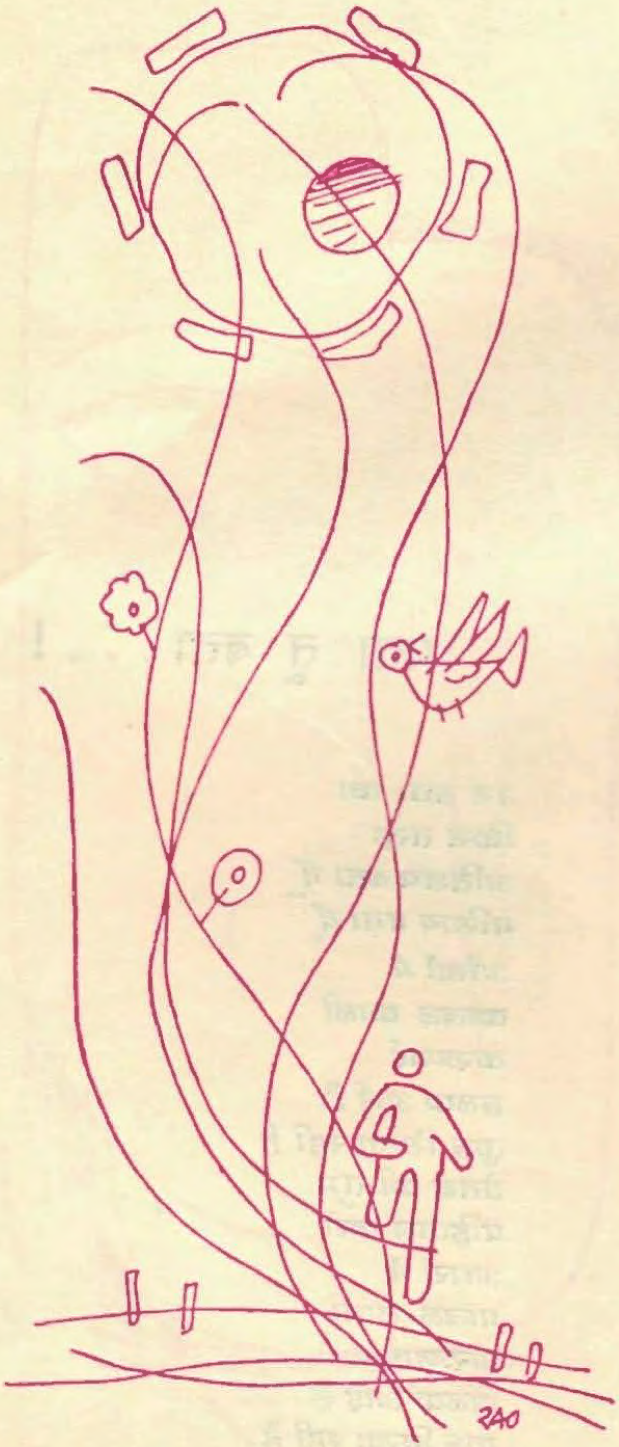

गालों में
मांसल वाली
तरुणाई,
ढुलक आई है
कुछ बता रही है
समुचित बल का
बलिदान करो ..... !
बालों में
अलिगुण-हरिणी
श्यामल-वाली
(निपुणाई) कुटिलाई
झलक आई है
कुछ सुना रही है
काया का मत
सम्मान करो..... !
चरणों में
सादर-आली
चरणाई
पुलक आई है
गुन गुना रही है
पूरा चलकर
विश्राम करो..... !

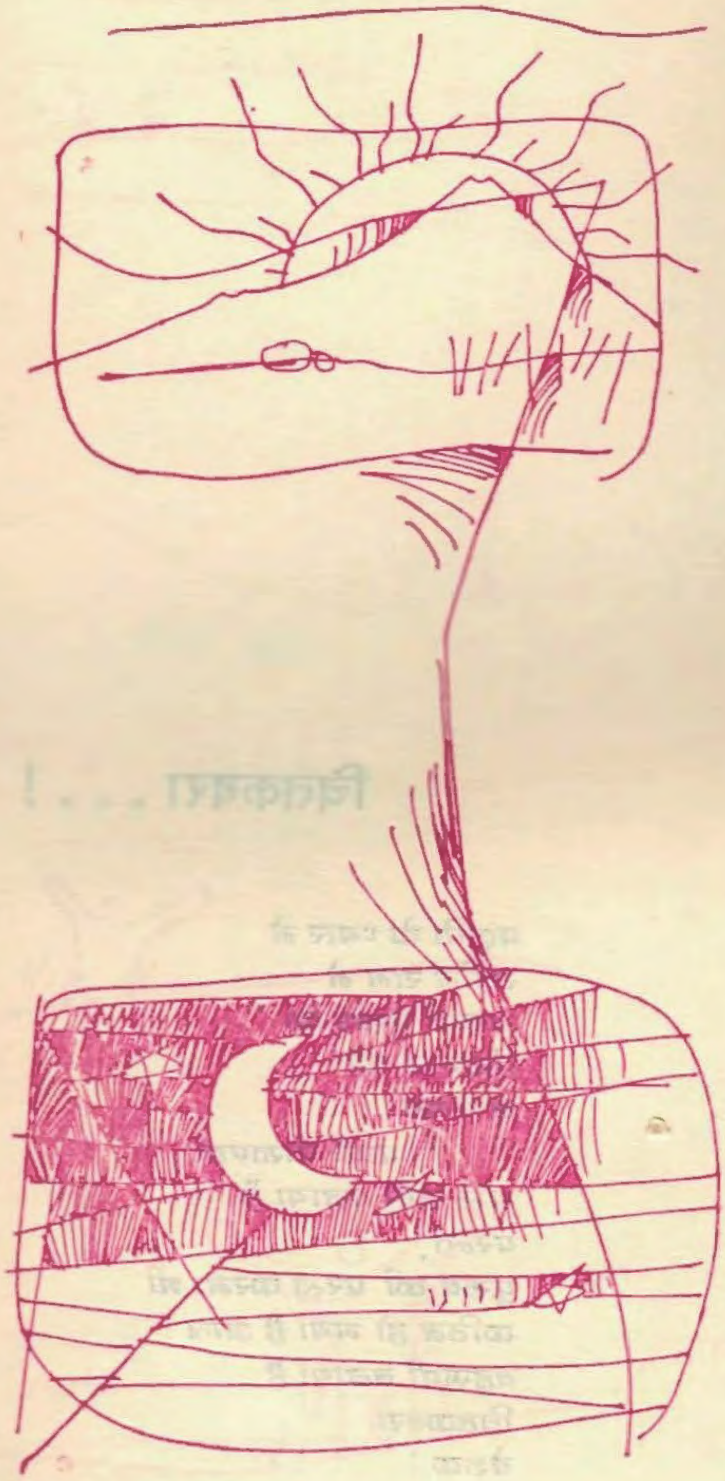

सजीव-गन्ध . . . !

वासना का विकास
मोह है ।
करुणा का विकास
मोक्ष है ।
एक जीवन को जलाती है
अंगार है ।
एक जीवन को जिलाती है
शृंगार है ।
वासना की जीवन परिधि
अचेतन, तम है
करुणा निरवधि है
जिसका केन्द्र
संवेदनधर्मा चेतन है
करुणा की कर्णिका से
अविकल झरती है
समता की सौरभ-सुगन्ध !
कौन कहता है
कि
करुणा से
वासना का संबंध है
वह अन्ध ही नहीं
मदान्ध होगा कहीं ..... ।

चितकबरा . . . !

प्रकृति के प्यार ने
रंगीन राग ने
अरूपी पुरुष को
चिदम्बर को
न केवल.....
.....पापी पाखण्डी
और रूपी बनाया है
परन्तु
पुरुष की परख करना भी
कठिन हो गया है आज !
बहुरूपी बनाया है
चितकबरा
बेशक ! ..... /

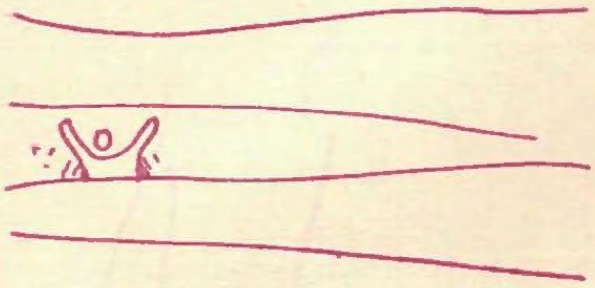

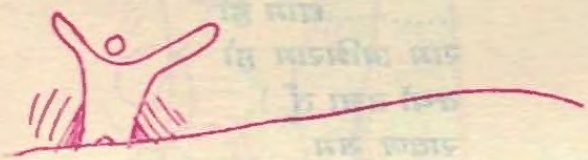

पथ पूर्ण हुआ . . . ।

वही अधिष्ठान है
सुख का
मृदु नवनीत
जिसका पुनः
मंथन नहीं है
वही विज्ञान है
ज्ञान .... है
निज रीति
जिसका पुनः
कथन नहीं है
वही उत्थान है
.... थान है
प्रिय संगीत
जिसका पुनः
पतन नहीं है ।

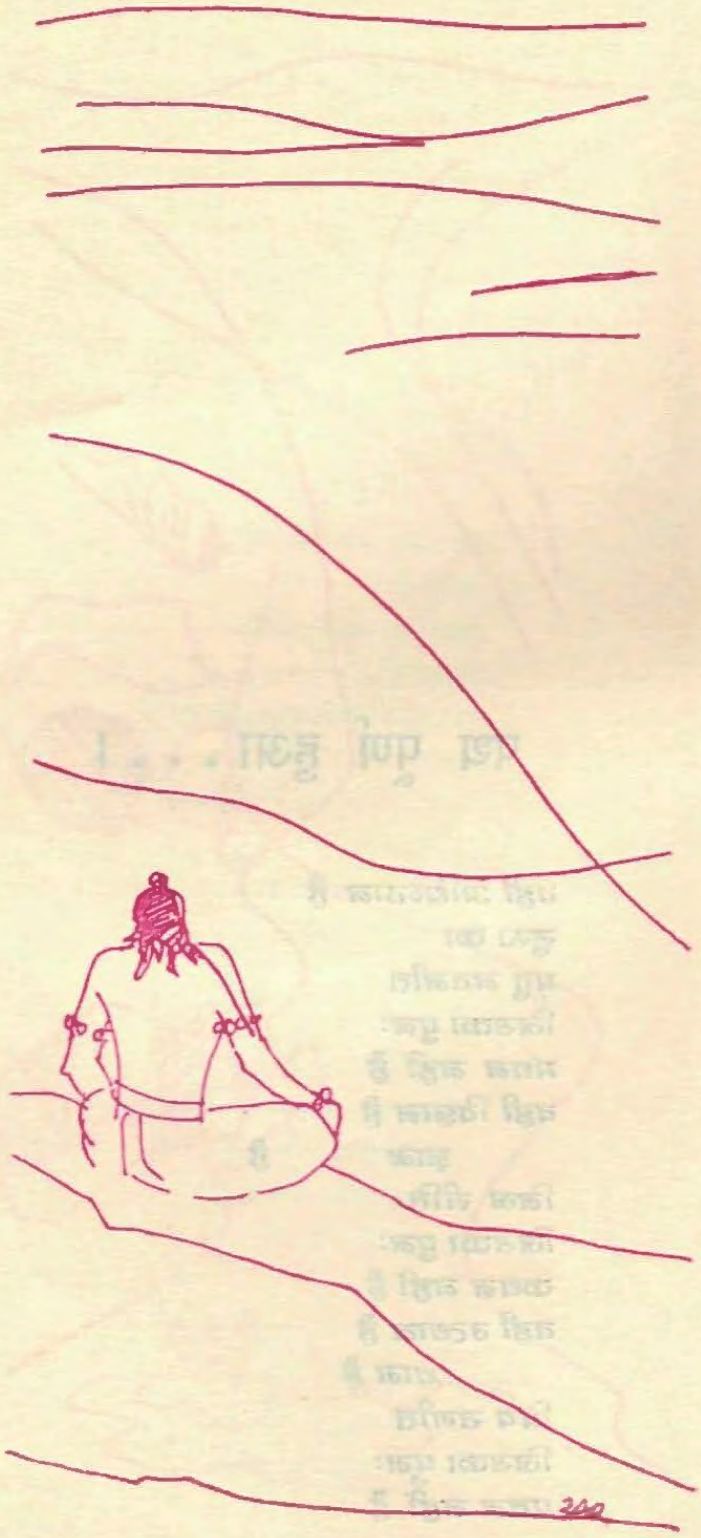

चख जरा....

शाश्वत निधि का
भास्वत विधि का
.....धाम हो
राम अभिराम हो
क्यों बना तूँ !
रावण सम
आठों याम
दीन-हीन
पाप-प्रवीण
"है" उसे
बस लख जरा
बहुत दूर जाकर
चेतना में
लीन हो
सुधा पीयूष
बस ! चख जरा ।

हो जाने दो

सत्ता पलट तो गई
भोग का वियोग हुआ
योग का संयोग हुआ
किन्तु उपयोग का !
उपयोग कहाँ हुआ ?
भोक्ता पुरुष ने
उपयोग का उपयोग नहीं किया
मात्र परिधि पर.....
परिणाम हुआ है बस !
अभी केन्द्र में
सूम्-साम है, शाम है
है ! घनश्याम तुम-सा अनन्त
इसे भी
हो जाने दो ! ..... ।

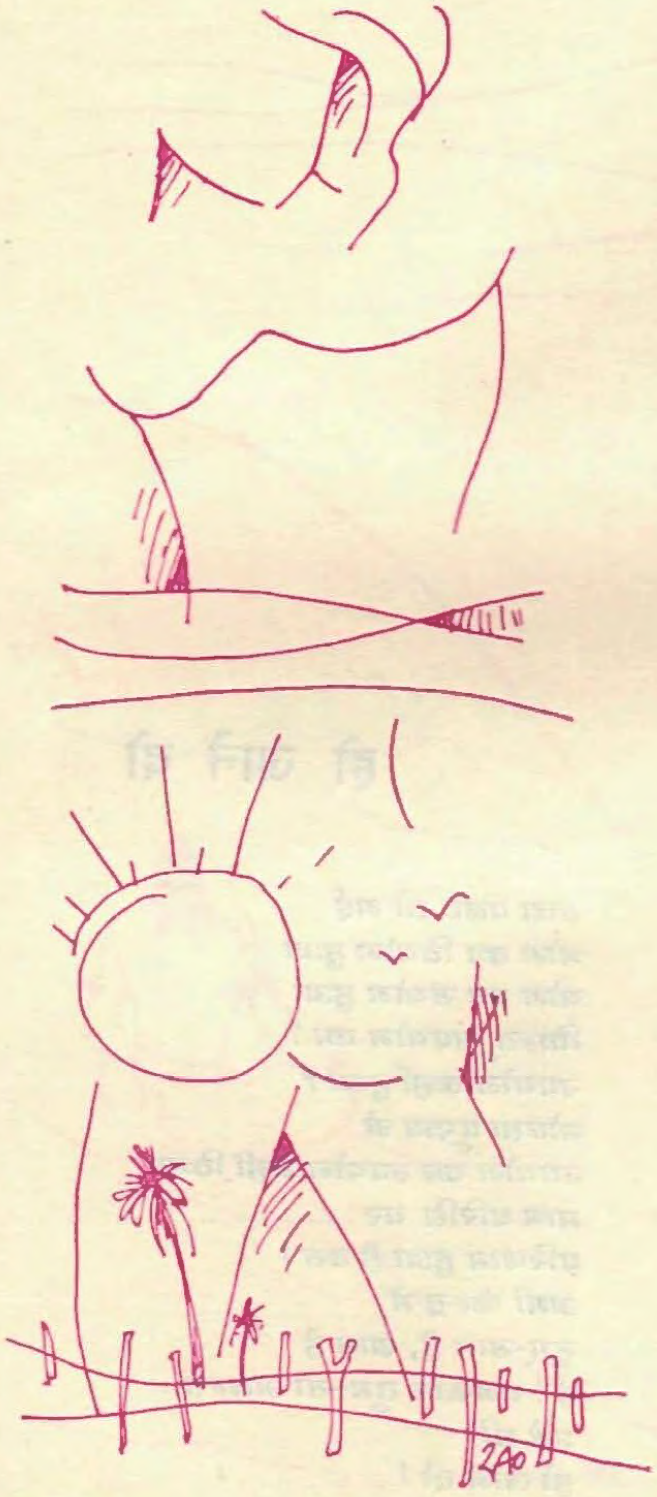

खो जाने दो

अरी ! वासना
यथानाम तथाकाम है तेरा
तुझमें सुख का
निवास / वास ना !
तुझमें गहराई है कहाँ ?
और मैं
गहराई में उतरने का
हामी हूँ
चंचल अचल में
केवल लहराई है
तेरे आलिंगन में
मोहन-इंगन में
सुख की गन्ध तक नहीं
मात्र सुख की वसना है
जो ओढ़ रखी है तूने
जिसमें सारी माया ढकी है
इसलिए इसे
अपनी उपासना की
अनन्त सत्ता में
खो जाने दो
ओ ! वासना !

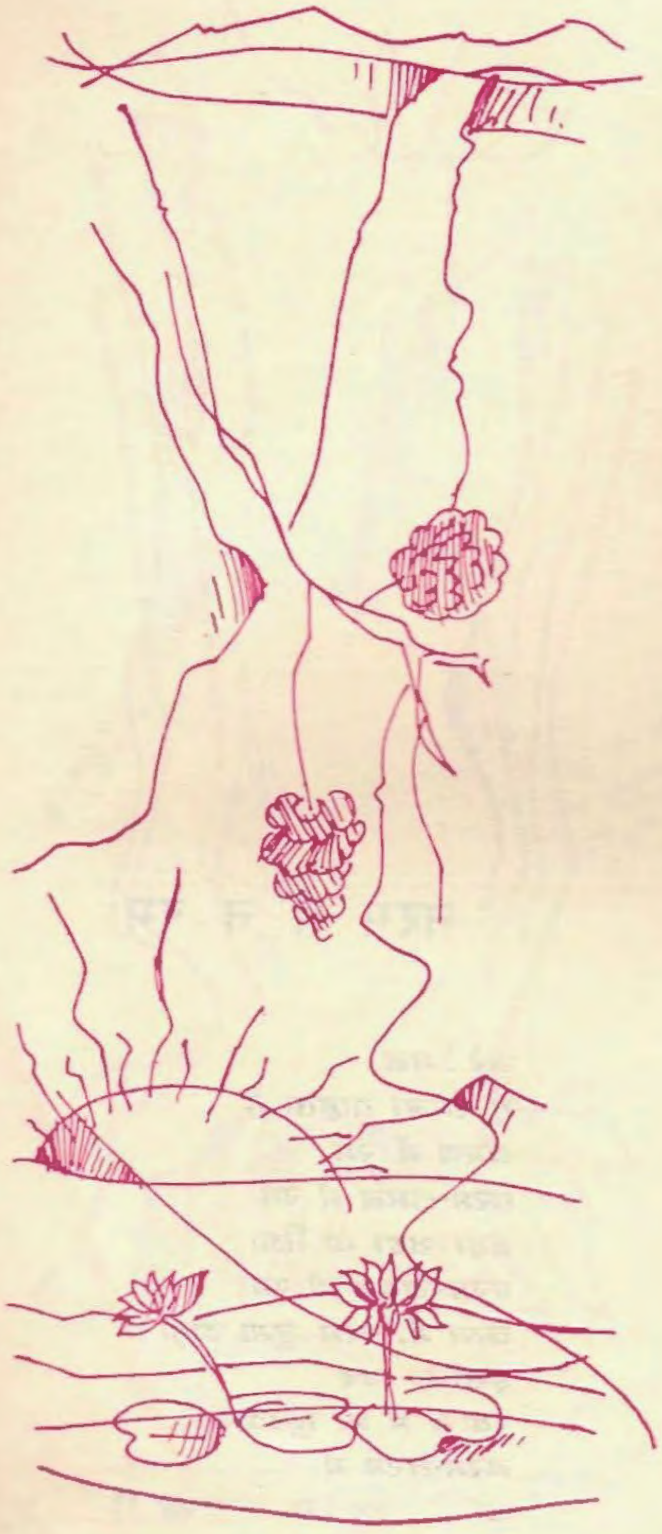

मेरा वतन . . . . . !

यह जो तन है
मेरा वतन नहीं है
तन का पतन
मेरा पतन नहीं है
प्रकृति का आयतन है,
जन-मन हारक नर्तन
परिवर्तन ········ वर्तन
अचेतन है
फिर, इसका क्यों हो
गीत-गान-कीर्तन ?
इतना तनातन
स्थाई बनाने का
और यतन
सबका स्वभाव | शील है
कभी उत्थान कभी पतन
मैं प्रकृति से चेतन हूँ
प्रकाश-पुंज रतन हूँ
सनातन हो नित नूतन
ज्ञान-गुण का केतन मेरा वतन है
वेदन-संवेदन अनन्त वेतन है
इसलिए मैं
बे-तन हूँ ।

नरम में न रम

अरे ! मन
तू रमना चाहता है
श्रमण में रम
चरम-चमन में रम
सदा-सदा के लिए
परम-नमन में रम
चरम में, चरम सुख कहां ?
इसलिए अब
स्वप्न में भी भूलकर
नरम-नरम में
न ..... रम ! न ..... रम !!

खरा सो मेरा

आम तौर से
पके आम की यही पहिचान होती है
हाथ के छुवन से
मृदुता का अनुभव
फूटती पीतिमा
तैर आती नयनों में ।
फूल समान नासा फूलती है
सुगन्ध सेवन से ।
फिर !
रसना चाहती है रस चखना
मुख में पानी छूटता है
तब वह क्षुधित का
प्रिय भोजन बनता है
यही धर्मात्मा की प्रथम पहिचान है
मेरा सो खरा नहीं
खरा सो मेरा
वाणी में मृदुता
तन-मन में ऋजुता
नम्रता की मूर्ति
तभी तो
भव से प्राणी छूटता है
मुक्ति उसे वरना चाहती है
और वह उसका
प्रेम-भाजन बनता है ।

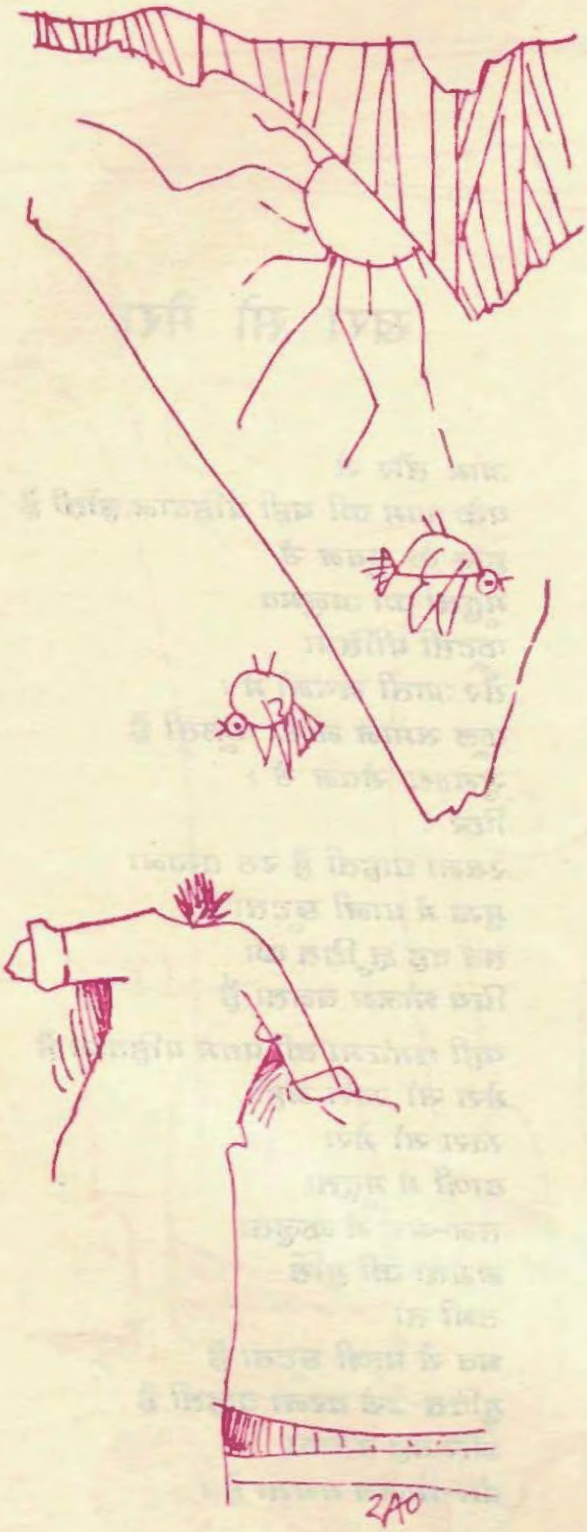

स्वयं का सृष्टा, मैं

बाहर यह
जो कुछ दीख रहा है
"सो" मैं नहीं हूँ
और वह
मेरा भी नहीं है
ये आँखें
मुझे देख नहीं सकतीं
मुझमें देखने की शक्ति है
उसी का मैं सृष्टा हूँ।
सभी का मैं दृष्टा हूँ।

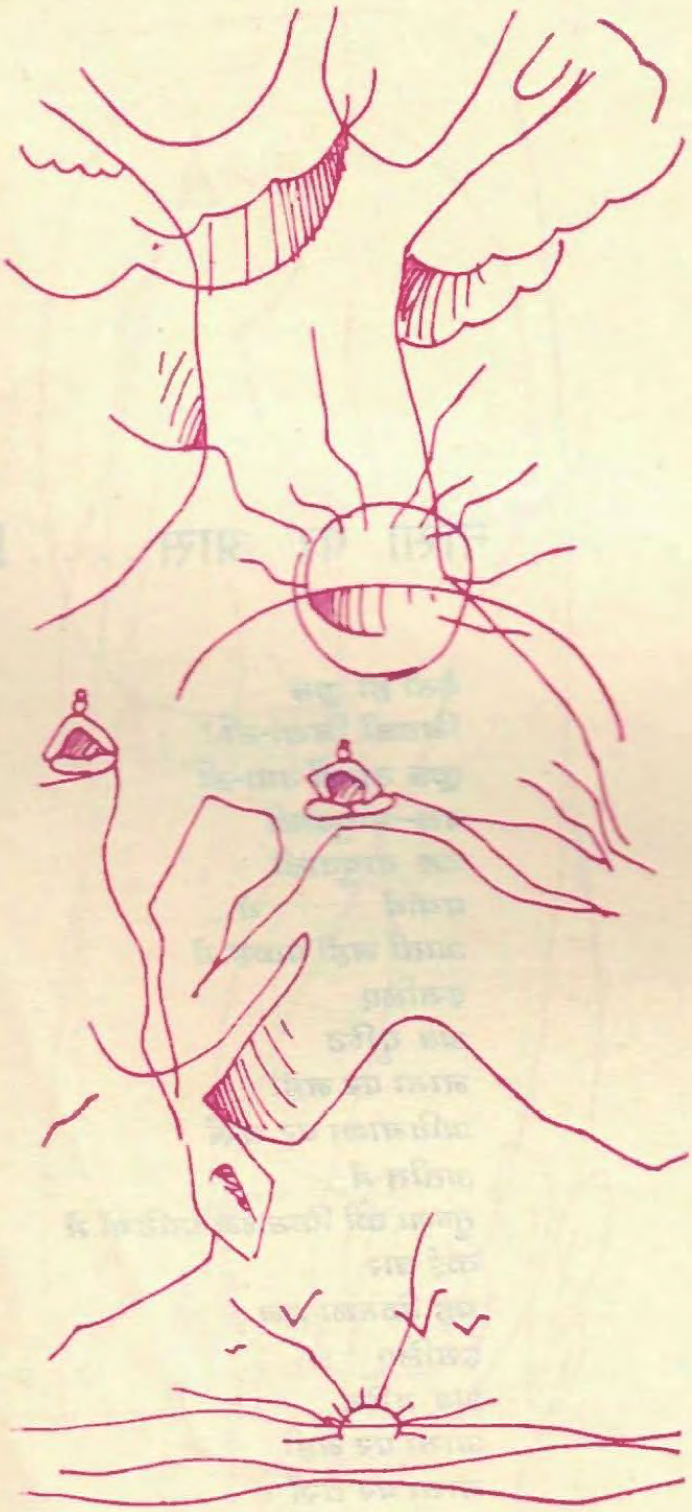

समता . . . . !

मुक्ति की ही नहीं
मुक्ति की भी
चाह नहीं है
इस घट में
वाह वाह की
परवाह नहीं है
प्रशंसा के क्षण में
दाह के प्रवाह में अवगाह करूँ
पर ! आह की तरंग भी
कभी न उठे
इस घट में ·· ··· संकट में
इसके अंग-अंग में
रग-रग में
विश्व का तामस आ
भर जाय
किन्तु विलोम भाव से,
यानी !
ता ...म .. स——स.....म.....ता

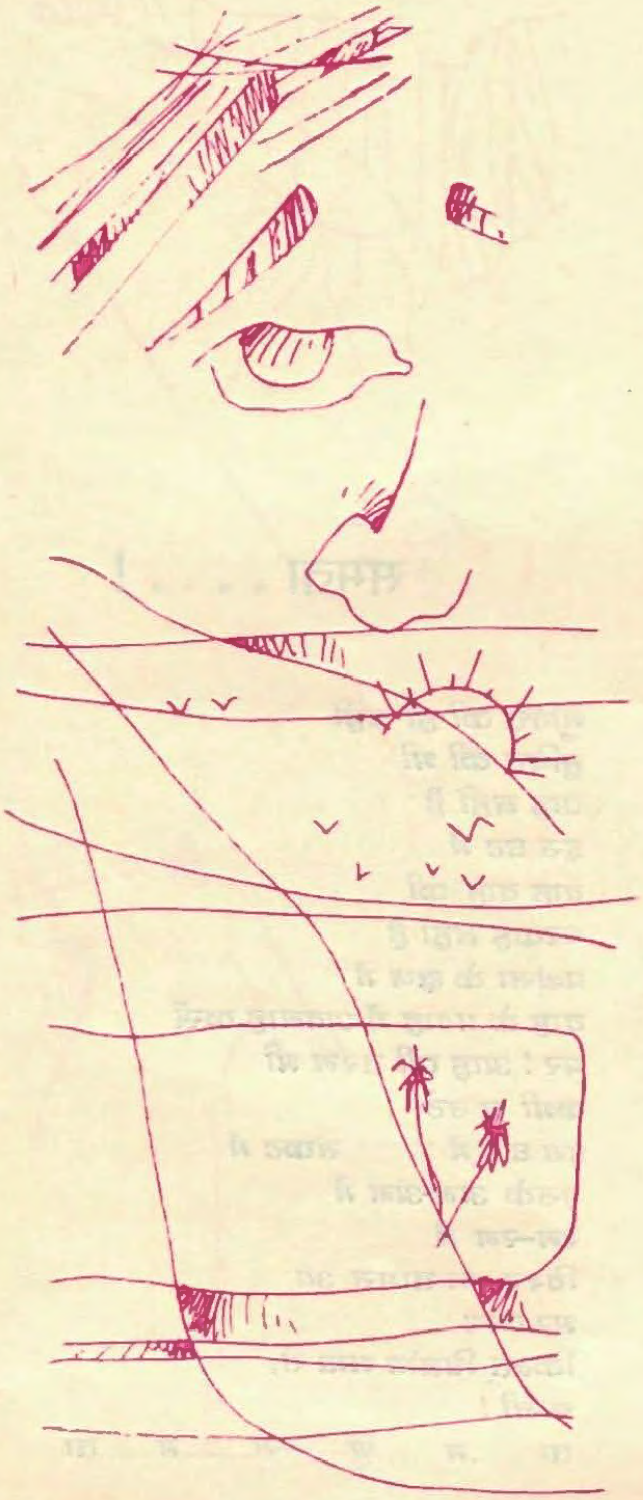

नासा पर आस....!!

ऐसी ही कुछ
मिचली निशा-सी !
कुछ उछली उषा-सी
पल-आयुवाली
चल वायुवाली
पर्यायें.............ये ..
आती नहीं पकड़ में
इसलिए
अब दृष्टि
नासा पर नहीं
अविनाशी पर धरूँ
अतीत में
तृष्णा की फिसलन घाटियों में
कई बार
यह फिसला मन
इसलिए
अब दृष्टि
आसा पर नहीं
नासा पर धरूँ ।

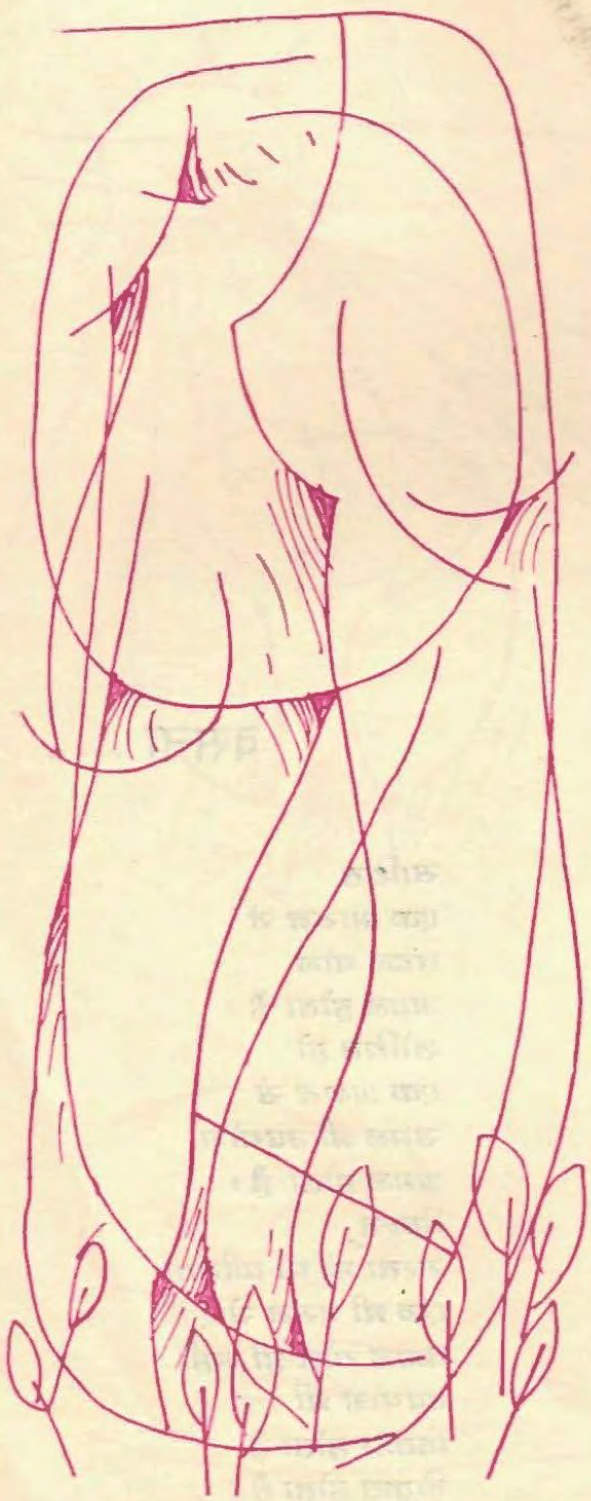

प्यास पराग की ..!

उर्ध्वमुखी हो
उर्ध्व उठा है इतना
कि जिसे
अशन-वसन की
ललन-मिलन की
परस-हसन की
और
प्रभु-पद दर्शन की तक
इच्छा नहीं शेष..... !
गुण-सुरभि से सुरभित
फुल्लित फूल-परागी
कहाँ है वह वीतरागी
कहीं हो
उसे हो नमन
पराग प्यासा
अलि बन रागी ।

वसना . . . . . !

साधित
एक आसन से
तचल योग
अचल होता है ।
शोधित हो
एक अशन से
समल भी उपयोग
अमल होता है ।
किन्तु
सस्ता हो या कीमती
एक भी वसन से
केवल योग ही नहीं
उपयोग भी
विकल होता है
विकृत होता है ।

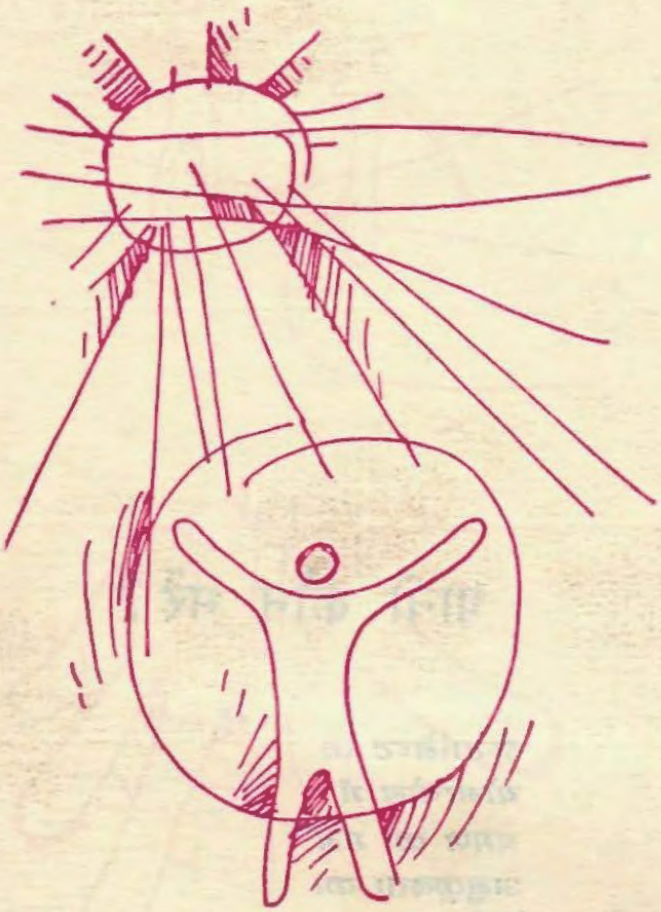

कम्पन, कदम में

नसैनी पर
चढ़ते दम
आसानी से
सीढी से सीढी
चढता जाता है यह
शुब्द शून्य को
दृष्टि छूती है तब .....।
और निर्निमेष
नीलिमा का दर्शन
लोम-हर्षन.....।
मन में
दृढ़ता लाता है
किन्तु
उतरते दम
एकदम
दम घुटता है
मात्र श्वेष
चमकीली दर्शन होता है तब
आँखें मुँदती हैं
भय बढ़ता जाता है
भीतरी बल
कम पड़ता जाता है
और कदम ..... काँपता
सीढ़ी पर नहीं
शून्य में पड़ता है।

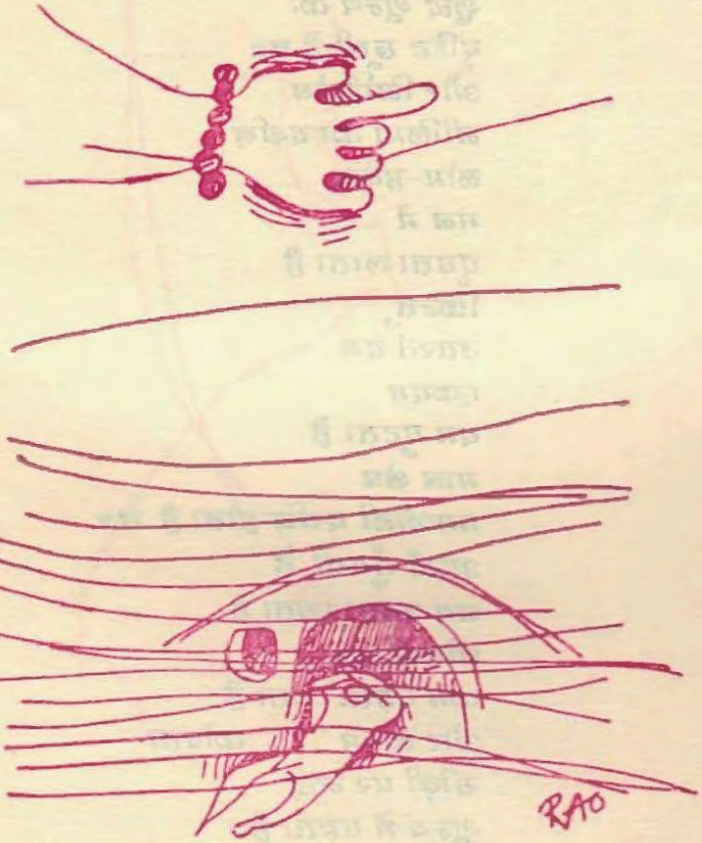

पानी कौन भरे ?

इष्टानिष्ट के
योगायोग में
श्रमण का मन
अनुकूलता का
हर्ष का
प्रतिकूलता का
विषाद का
यदि अनुभव नहीं करता
तब यह नियोग है
कि उसी के यहाँ
प्रतिदिन पानी भरता है
और प्रांगण में
झाड़ू लगाता है "योग"
और
विराग की वेदी पर
आसीन होता है
शुचि-उपयोग
भोक्ता पुरुष .....!

मिलन नहीं, मिला लो !

काया के मिलन से
माया के छलन से
ऊब गया है यह
भटकता-भटकता
विपरीत दिशा में
खूब गया है यह
सहचर हैं बहुत सारे
पर ! कैसे लूँ ?
सहयोग उनसे
अंधों से कंधों का सहारा
मिल सकता है
किन्तु
पथ का दर्शन प्रदर्शन संभव नहीं है
यह भी अंधा है
इसे आँख मत दो - भले ही
मत दो प्रकाश
किन्तु
हस्तावलम्बन तो दो !
इसे ऊपर लो गर्त से
और मिलन नहीं
अपने आलोक में मिला लो
हे सब द्वन्द्वों से अतीत !
अजित ! अभीत !

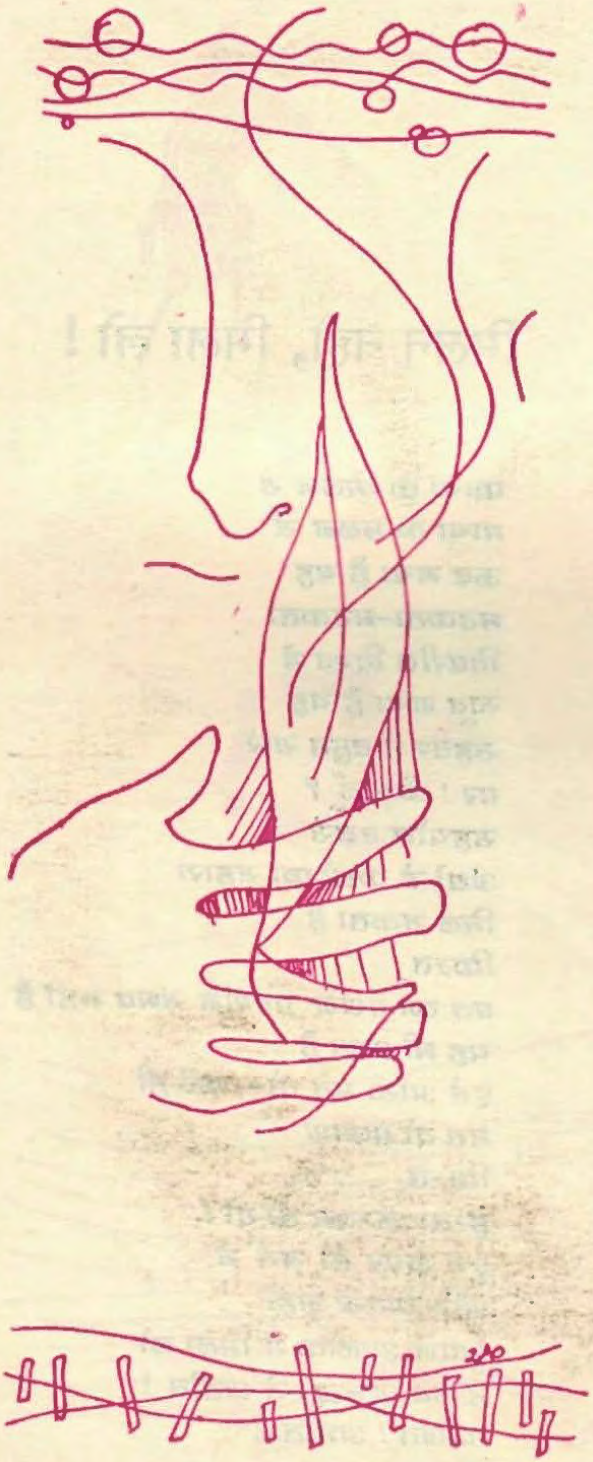

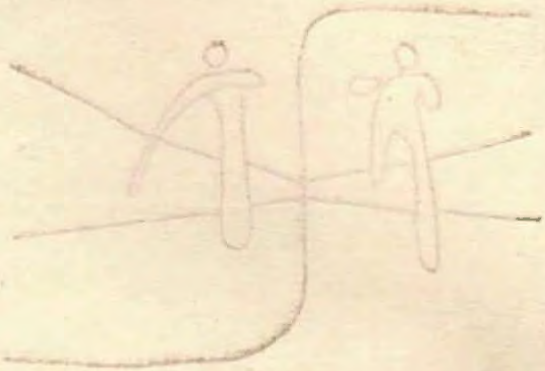

सन्धि, अन्धि से

इस बात को स्वीकारना होगा
कि
आँख के पास
श्रद्धा नहीं होती है
जब कुछ नहीं दिखता एकान्त में
आँखें भय से कांपती हैं,
और !
श्रद्धा !!
अंधी होती है
किन्तु
श्रद्धा के पास
उदार-तर उर होती है
जिसमें मधुरिम
सुगन्धि होती है
प्रभु का नाम जपती है,
तभी तो
सहज रूप से
अज्ञेय किन्तु
श्रद्धेय प्रभु से
सन्धि होती है
श्रद्धा ! अंधी होती है।

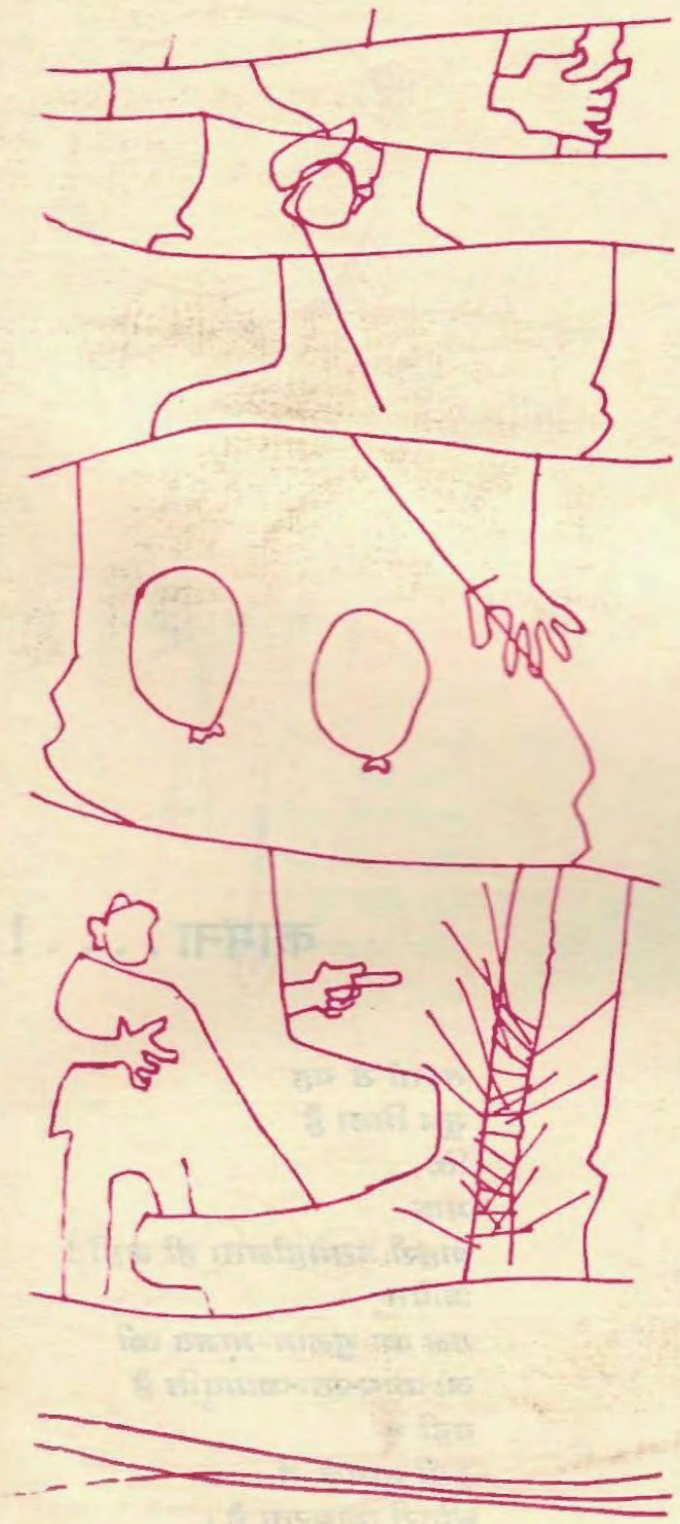

आस अबुझ

एक हाथ में दीया है
एक हाथ की ओट दिया
हवा से बुझ न पाये,
अपना श्वांस भी
बाधक बना है आज,
टिम-टिमाता जीवित है
जीवन खेल
स्वल्प बचा है
दीया में तेल
तेल से बाती का सम्बन्ध भी
लगभग टूट चुका है,
जलती - जलती
बाती के मुख पर
जम चुका है
कालुष कालिख मैल,
श्वॉस क्षीण है
दास दीन है
किन्तु आस अबुझ
नित-नवीन
प्रभु दर्शन की
कब हो मेल
कब हो मेल..... ?

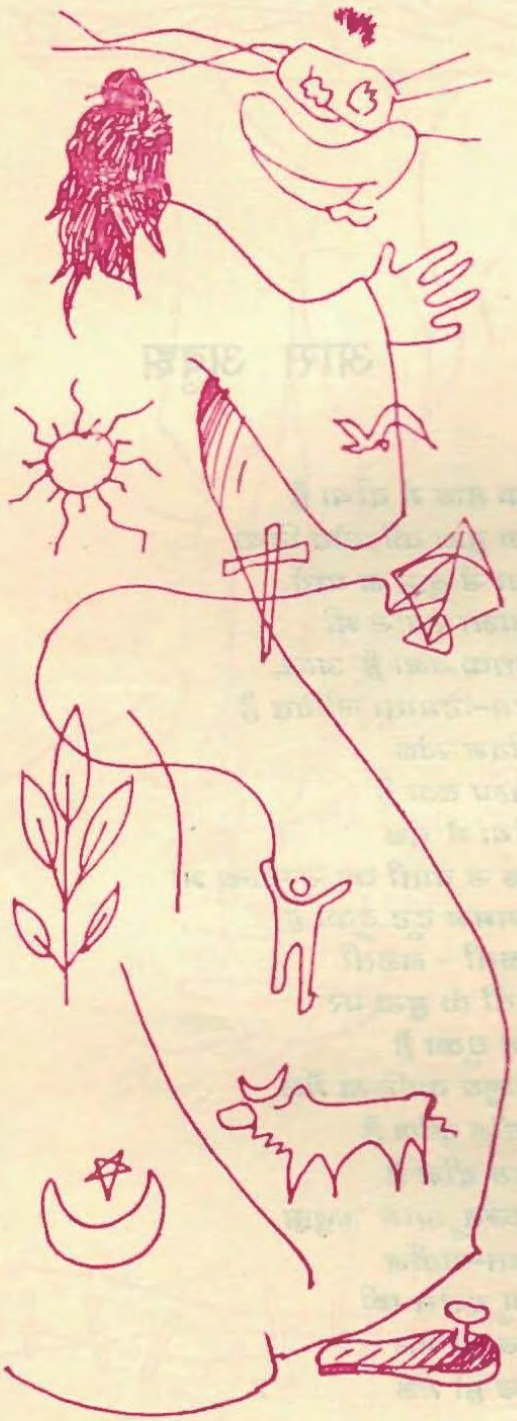

कामना . . . . !

सन्तों से यह
सूत्र मिला है
कि
मात्र
बाहरी उद्यमहीनता ही नहीं !
अपितु
मन का गुलाम-मानव की
जो काय-रता-कामवृत्ति है
वही
सही मायने में
भीतरी कायरता है ।

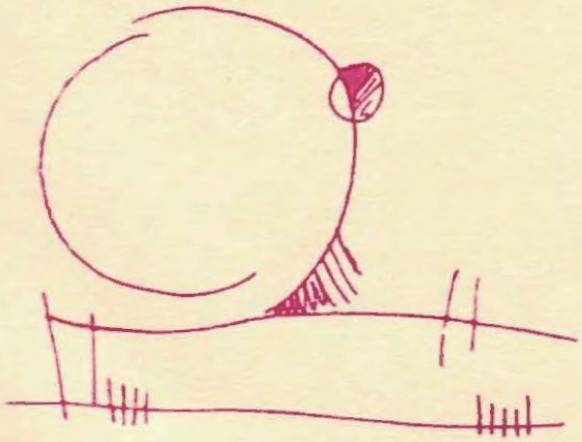

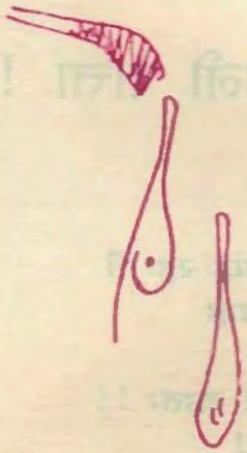

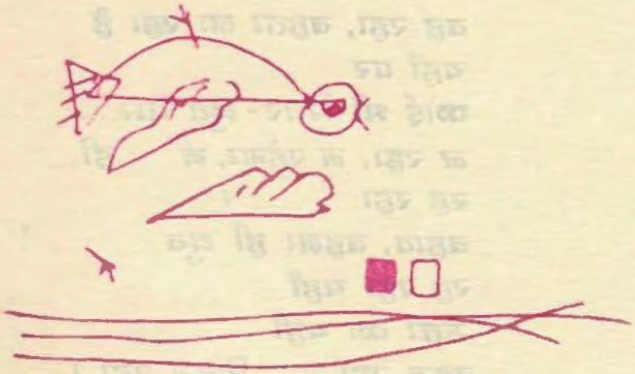

भींगे पंख .....

सूरज सर पर
कसकर तप रहा है
मैं निःसंग हूँ..... ।
आसीन हूँ
सुखासन पर
ललाट तल से
शनैः शनैः
सरकती-सरकती
भृकुटियों से गुजरती
नासाग्र पर आ
पल-भर टिकी
गिरती है
स्वेद की बूँद... ... ।
वायुयान - गतिवाली
स्वच्छन्द उड़ने वाली
मक्षिका के पंख पर ... ।
और वह मक्षिका
भींगे पंख ।
उड़ने की इच्छा रखती
पर ! उड़ना पाती
यह सत्य है
कि
रागादिक की चिकनाहट
और पर का संपर्क
परतन्त्र का
प्रारूप है..... ।

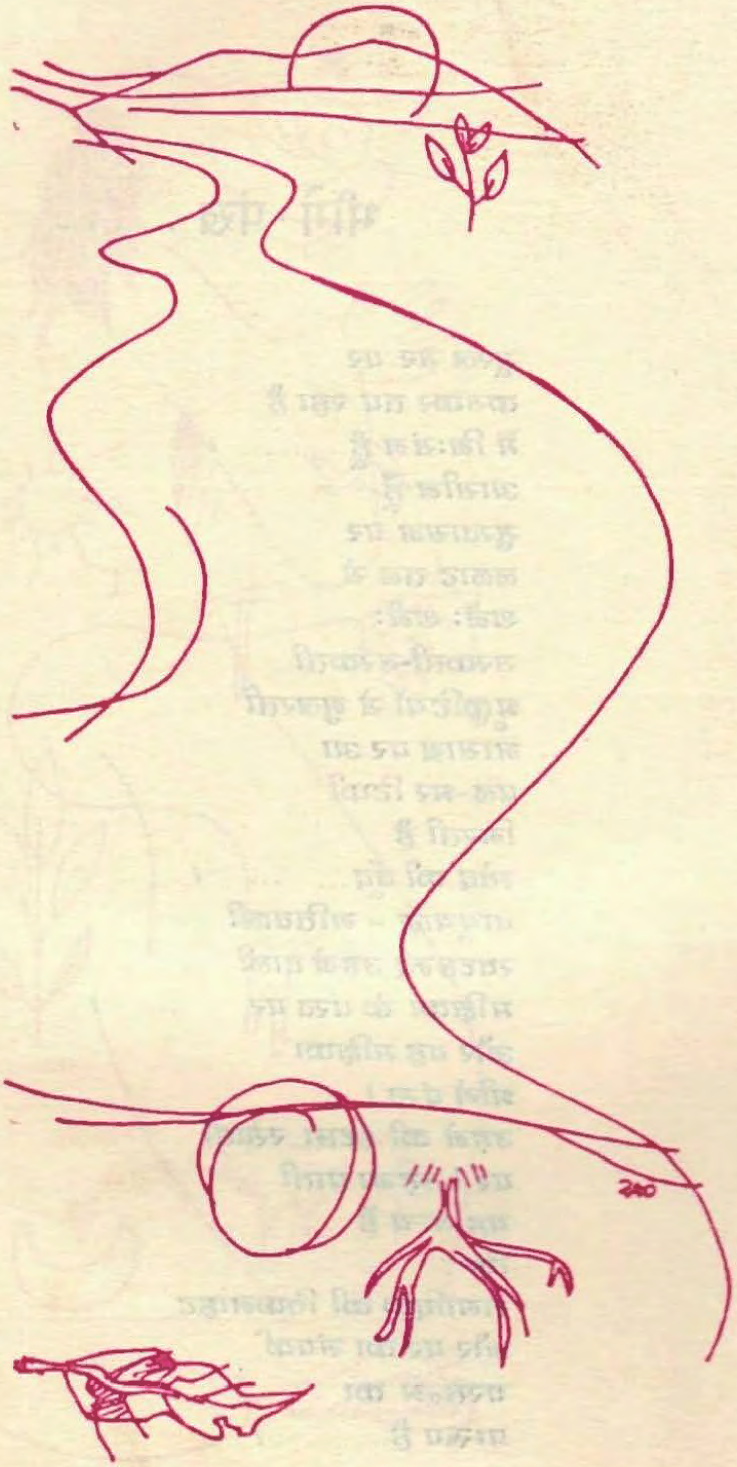

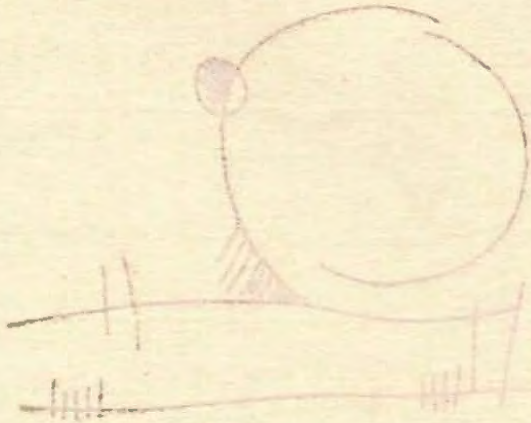

हसीली सत्ता !!

यह एक
नदी का प्रवाह रहा है
काल का प्रवाह
बह रहा है
और बहता ! बहता !!
कह रहा !!!
जीव या अजीव का
यह जीवन
पल-पल इसी प्रवाह में
बह रहा, बहता जा रहा है
यहाँ पर
कोई भी स्थिर-ध्रुव चिर..... !
न रहा, न रहेगा, न ... ही.....
रह रहा ..... ।
बहाव, बहना ही ध्रुव ..... !
रह रहा यहाँ
सत्ता का यही
रहस रहा..... विहस रहा ।

खण्ड चार

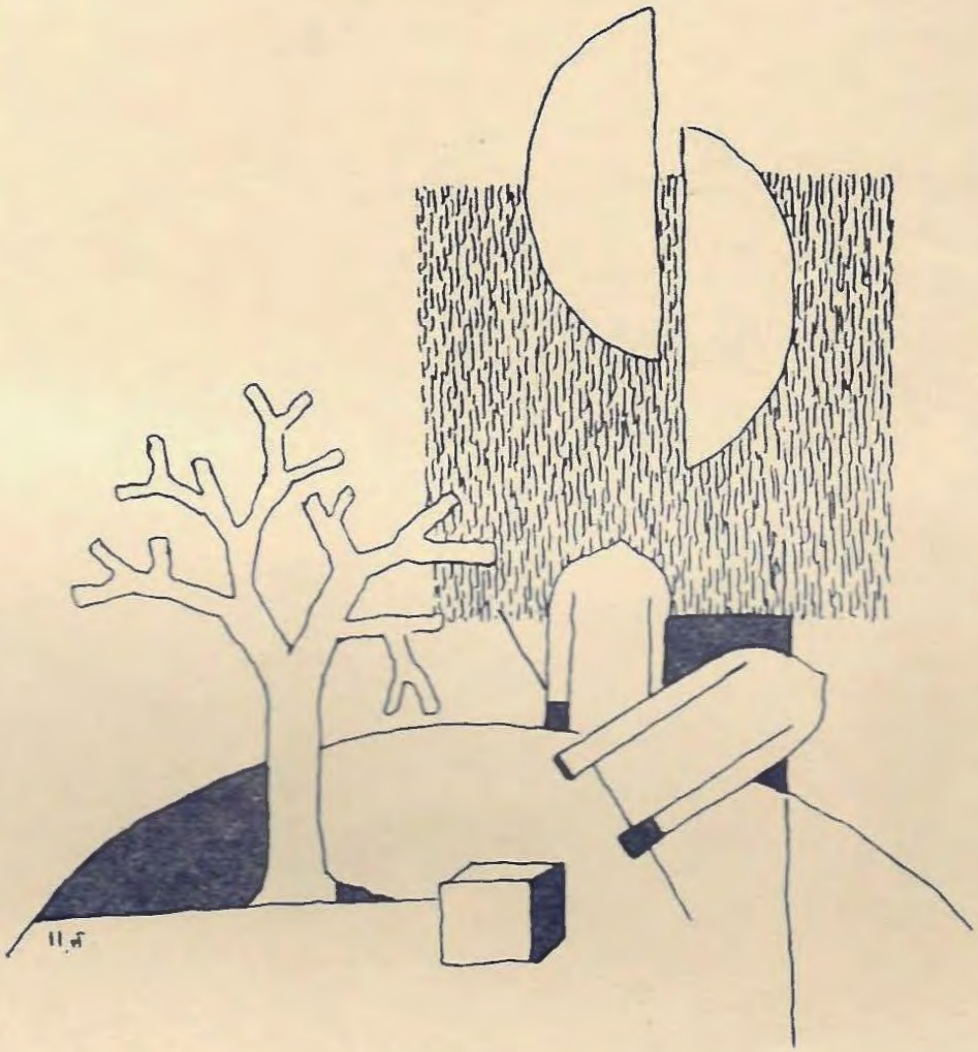

चेहरे के आलेख

व्यक्ति अपने हृदय में जो शब्द/शब्दार्थ संजोता है उसकी झलक उसके चेहरे के रूप-पटल पर अनायास अंकित हो जाती है। यहां संकलित काव्य-बिन्दुओं को पढ़ते हुए चेहरे पर कोई रेखा खिंच पड़े तो पाठक इसे क्या कहेगा—चेहरे के आलेख।

आइए पढ़ें हम अपने चेहरे के आलेख।

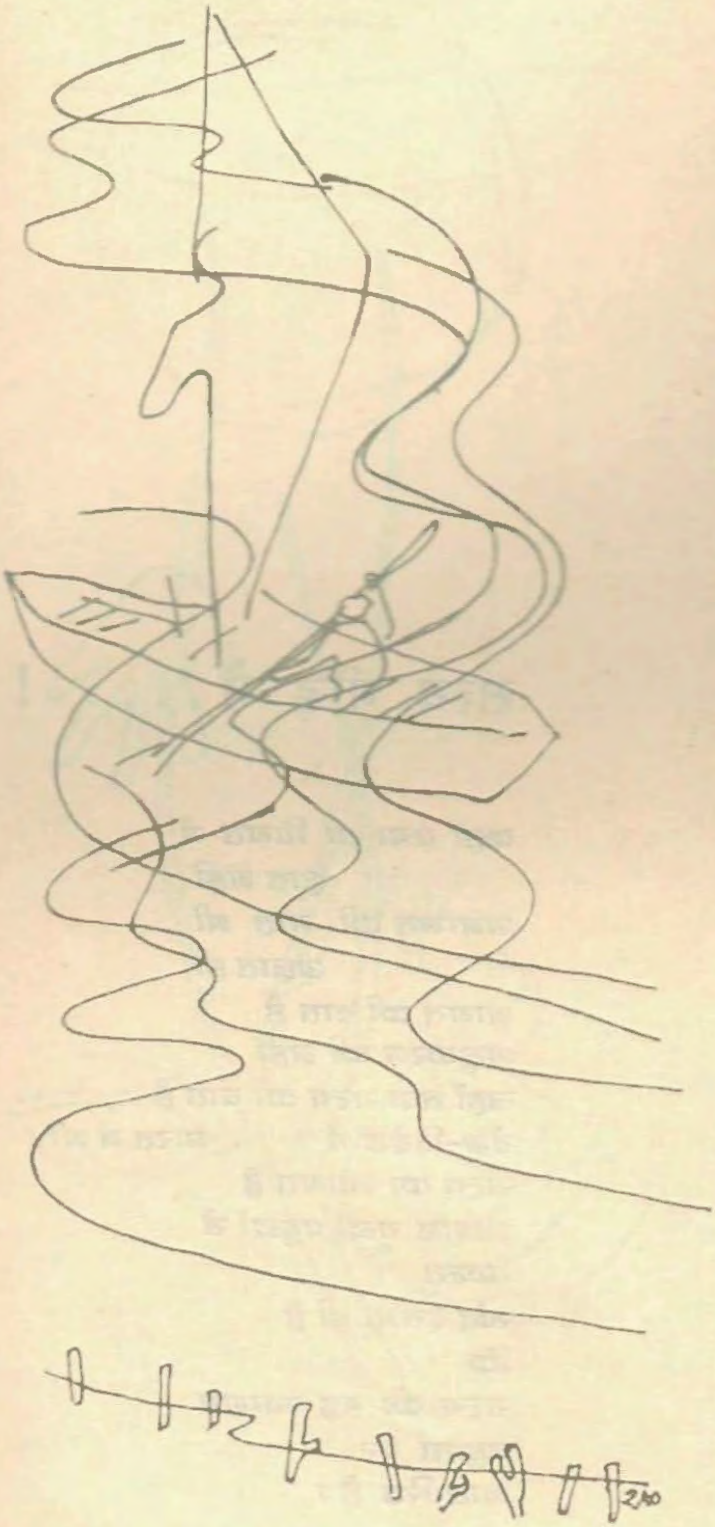

चुनाव . . . . !

डूबता हुआ विश्व
पा जाये
कूल किनारा
और एक
तरण-तारण
नाव मिली प्रभु से
उस पर कौन-कौन आरूढ़ हुआ ?
प्रभु जानते हैं
और अपना-अपना मन !
पता नहीं
आज वह नाव
जीवित है क्या ? नहीं
किन्तु नाव की रक्षा हो
एतदर्थ
एक परियोजना हुई
और वह जीवित है
चुनाव . . . . . ।

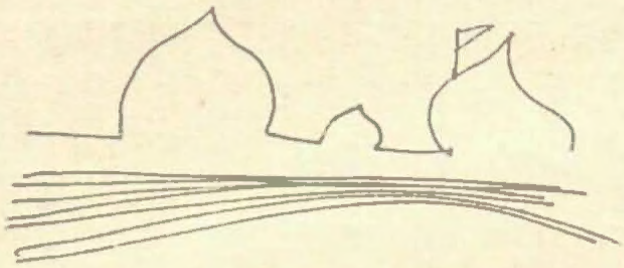

सत्य भीड़ में.....!

कहाँ क्या था विगत में
..... ज्ञात नहीं
अनागत की बात भी
..... अज्ञात ही
आगत की बात है
अनुकरण की नहीं
जहाँ तक सत्य की बात है
देश-विदेश में ..... भारत में भी
सत्य का स्वागत है
आबाल वृद्धों प्रबुद्धों से
किन्तु
खेद इतना ही है
कि
सत्य का यह स्वागत
बहुमत पर
आधारित है।

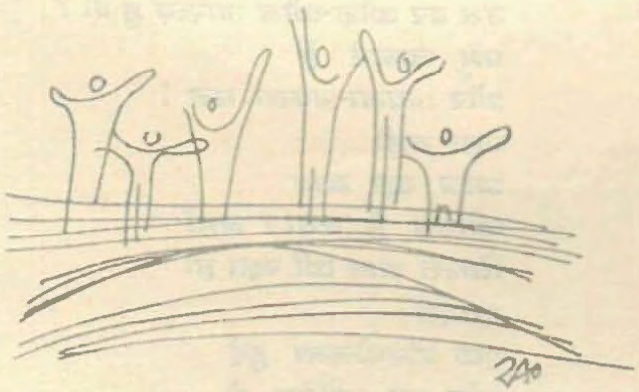

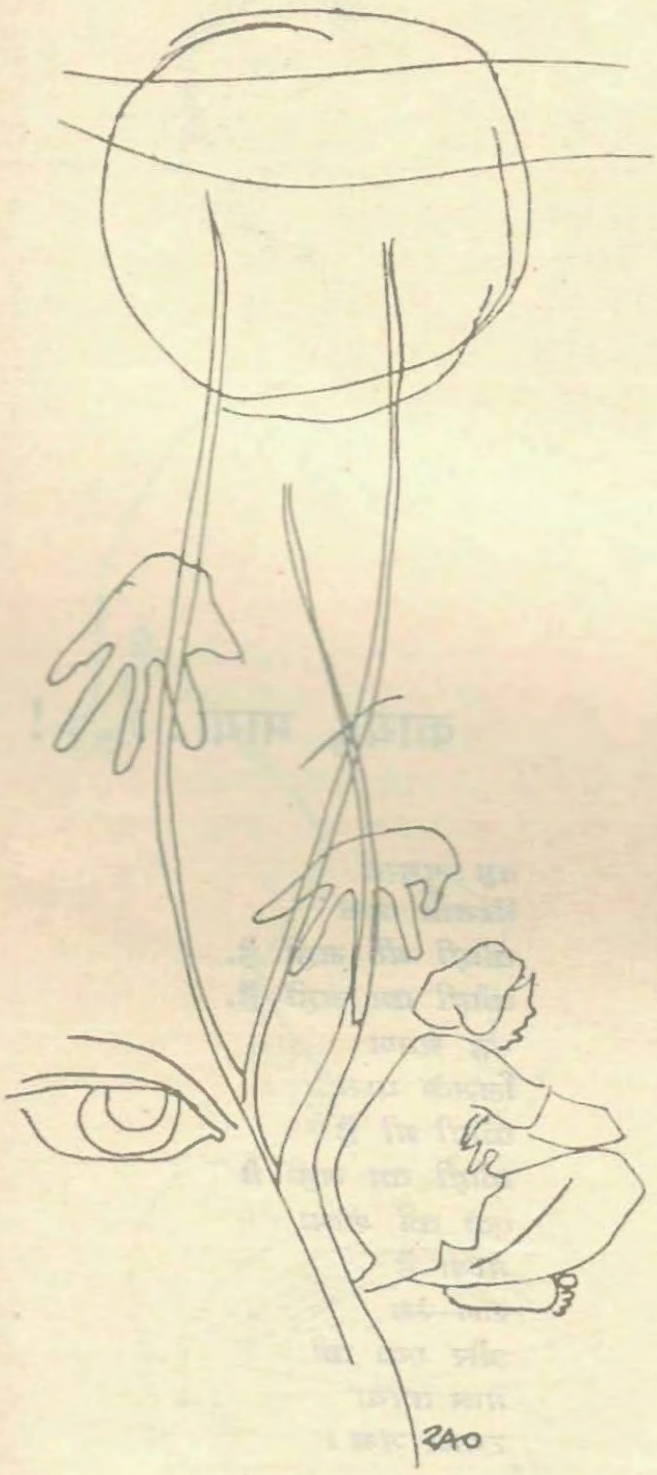

पूज्य, पूजक बना

यह सत युग नहीं है
कलि-युग है,
भीतर ही भीतर
अहं को रस मिलता है
आज ! लक्ष्मी का हाथ
ऊपर उठा है
अभय बाँट रहा है
परसाद के रूप में ।
और नीचे है
जिसके चरणों में
शरण की अभिलाष, ले
लजीली-सी
लचीली-सी
नत नयना
गत-वयना
सती सरस्वती
प्रणिपात के रूप में ।

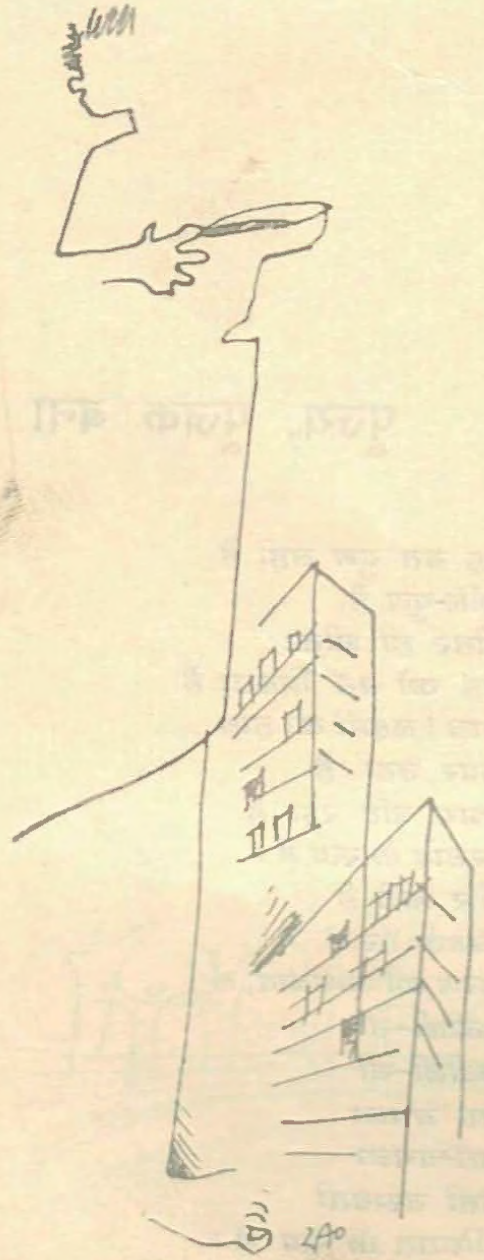

काया, माया....!

वह गृहस्थ
जिसके पास
कौड़ी भी नहीं है,
कौड़ी का नहीं है,
वह श्रमण
जिसके पास
कौड़ी भी है
कौड़ी का नहीं है
एक की शोभा
माया है
राग-रंग
और एक की
मात्र काया
त्याग-संग।

गिरगिट ....!

जिस वक्ता में
धन-कंचन की आस
और
पाद-पूजन की प्यास
जीवित है,
वह
जनता का जमघट देख
अवसरवादी बनता है
आगम के भाल पर
घूँघट लाता है
कथन का ढँग
बदल देता है,
जैसे
झट से
अपना रंग
बदल लेता है
गिरगिट।

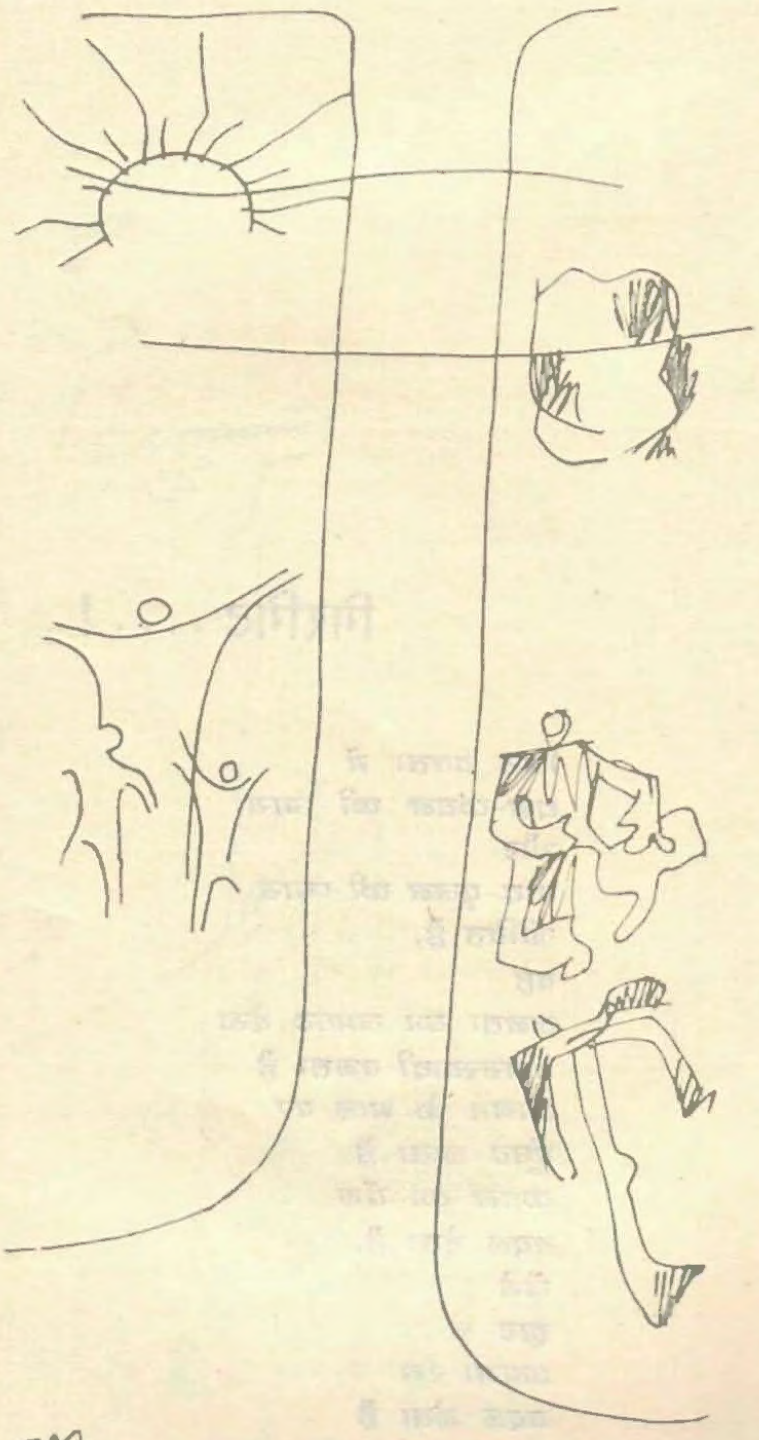

चिन्ता नहीं, चिन्तन

मानस का कूल है
समता का प्रकाश
अन्तिम विकास
तमसता का विकास
अन्तिम ··· हास..... !
परस्पर प्रतिकूल
दो तत्त्व
एक बिन्दु पर स्थित हैं
दोनों शुभ ! बाहर से
क्षीर नीर-विवेक,
धीर ····गम्भीर ...एक टेक
जीवन लक्ष्य की ओर
बढ़ रहा है इनका
एक का
तत्त्व-चिन्तन के साथ
और एक का
विषय-चिन्ता के साथ
एक साधु है
एक स्वादु ..... ।

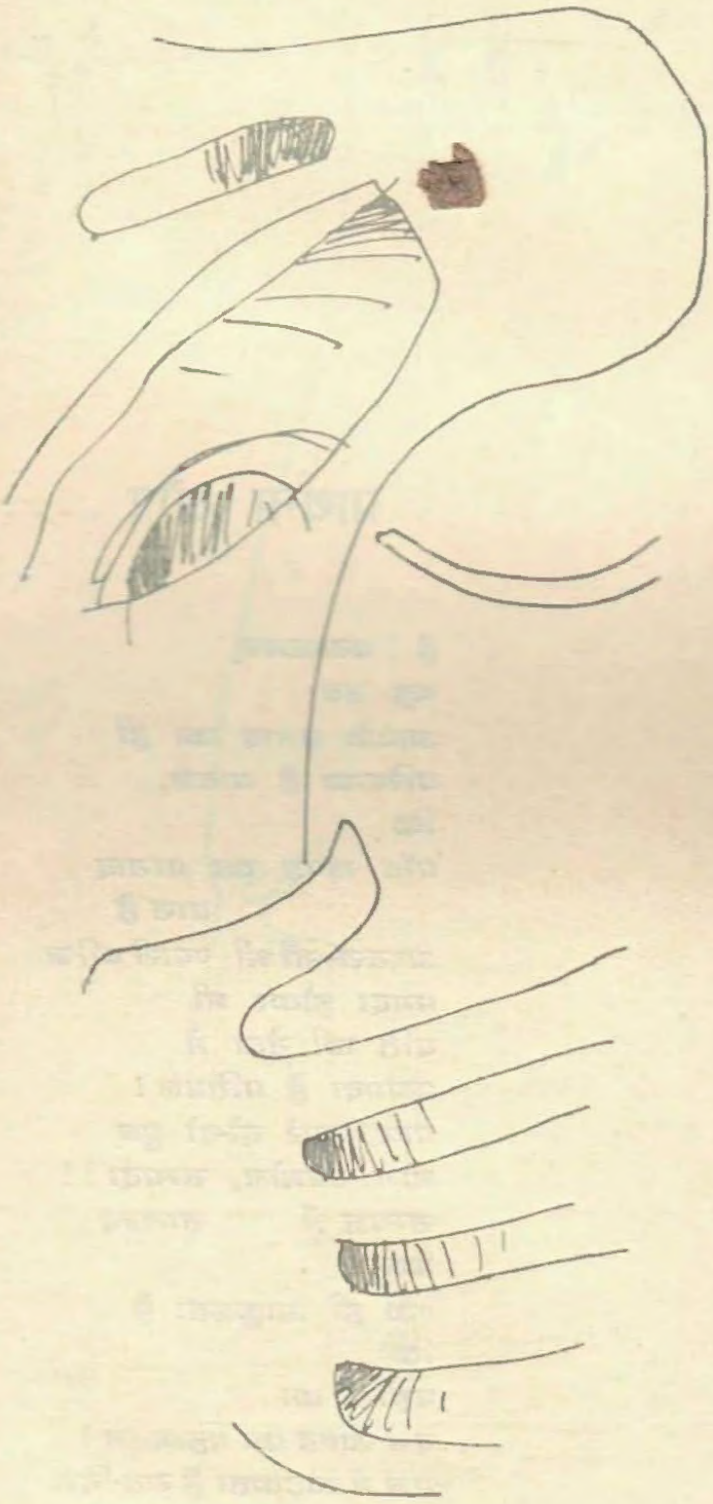

दयालु पंजे . . . . !

खर-नखर-दार
जिसके पंजे हैं
कभी चूहों का
शिकार खेलती है
कभी प्राण प्यारे
संतान झेलती है
जिन पलों में
प्यार पलता है
उन्हीं पलों में
काल छलता है
ऐसा लगता है
किन्तु पंजे आप
हिंसक हैं, न अहिंसक
प्राण का पलना
काल का छलना
यह अन्तर घटना है
बाहर अभिव्यक्ति है
तरंग पंक्ति है
घटना का घटक
अन्दर बैठा है
अव्यक्त व्यक्ति है वह,
उसी पर आधारित है यह
वही विश्व को बनाता भुक्ति
वही दिलाता विश्व को मुक्ति
हे ! भोक्ता पुरुष
स्वयं का भोग कब करेगा ?
निश्छल योग कब धरेगा ?

प्रार्थना और .....!

हे ! परमात्मन्
यह सब
आपके प्रसाद का ही
परिपाक है पावन,
कि
पाँच खण्ड का प्रासाद
....पास है
अप्सरा-सी भी प्यारी पत्नि
प्रमदा होकर भी
पति की सेवा में
अप्रमदा है प्रतिपल !
प्राण प्यारे दो-दो पुत्र
भोग, उपभोग, सम्पदा !!
सम्पन्न हूँ ..... सानन्द
किन्तु
एक ही आकुलता है
कि
पड़ौसी का
दस खण्ड का महाभवन !
मन में खटकता है रात-दिन ..... ।

कम-बख्त . . . . . !

कोई हरकत नहीं है
हरगिज कह सकता हूँ
यह हकीकत है
कि
हर-वक्त
हर व्यक्ति का दिमाग
चलता तो है
यदि संयत हो तो
वरदान होता है
सुख-संपादन में
एक तान होता है
किन्तु
विषयों का गुलाम हो तो
...और बे-लगाम हो तो
कमबख्त ! खतरनाक
शैतान होता है !

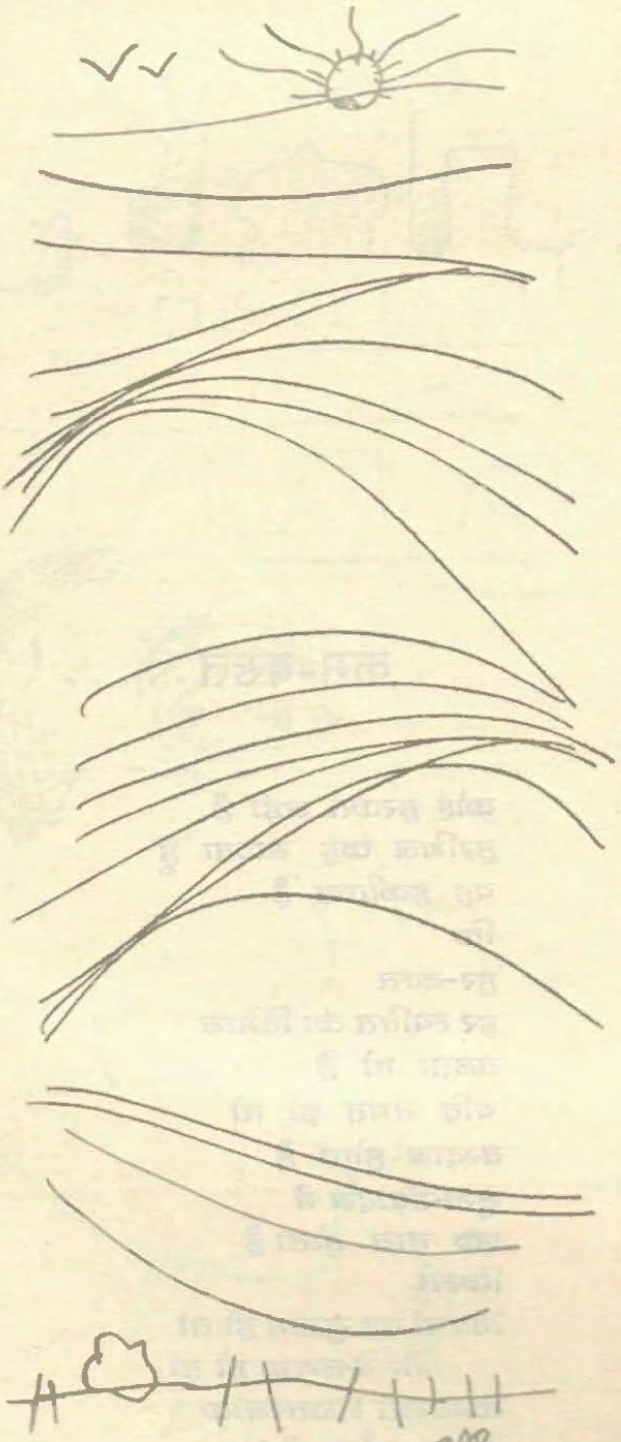

जलप्रपात ....!

पक्षपात .. !
यह एक ऐसा
जलप्रपात है
जहाँ पर
सत्य की सजीव माटी
टिक नहीं सकती
..... वह जाती
पता नहीं कहाँ ?
... ...वह जाती
और असत्य के अनगढ़
विशाल पाषाणखण्ड
अधगढ़े, टेढ़े, मेढ़े
अपनी धुन पर अड़े
शोभित होते ..... !

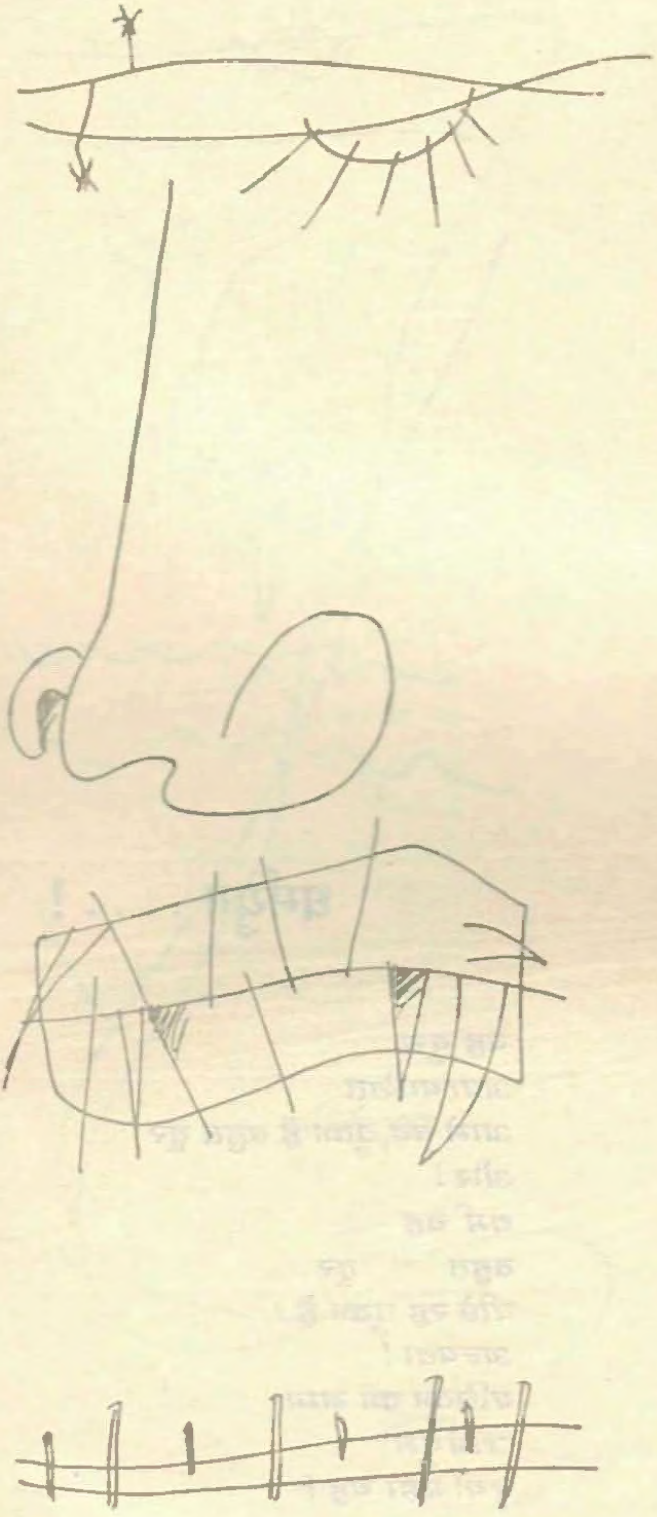

दिल की माँग....!

वीतराग का
दरस दूर रहा
हाय रे ! आज
शुद्ध-राग का
परस भी कहाँ है ?
सुधा पीयूष की
क्या कथा कहूँ
शुद्ध विष भी आज
नहीं मिलता ... !
रावण का अभिमान
अच्छा लगता है
किन्तु
राम का नाम लेना
इस युग की दीनता
सुहाती नहीं
इस दिल को ..... !

धर्मयुग . . . . !

यह युग
अप्रत्याशित
आगे बढ़ चुका है बहुत दूर .....
और !
धर्म वह
बहुत ..... दूर .....
पीछे रह चुका है ।
अन्यथा !
पत्रिका का नाम
"धर्मयुग"
क्यों पड़ा यह ?

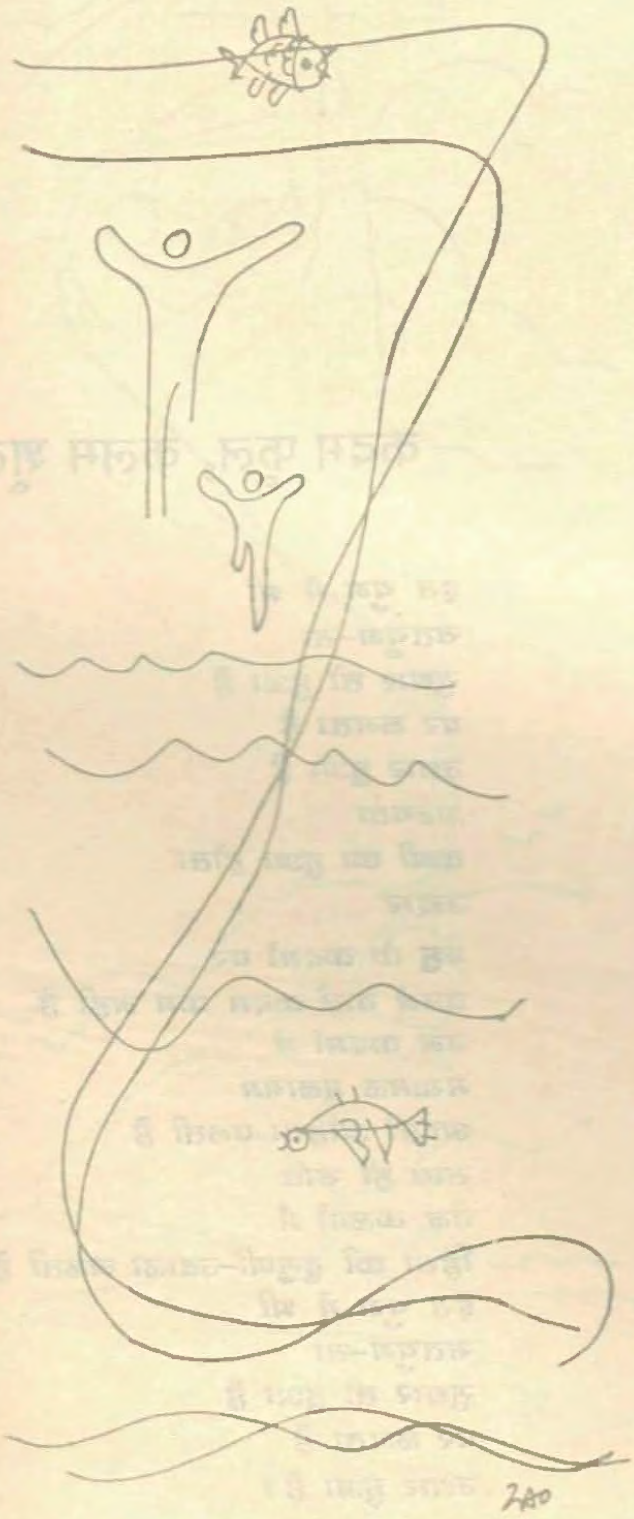

रंगीन व्यंग

बालक और पालक
दो दर्शक हैं
हरित-भरित
मनहर परिसर है
सरवर तट है
श्वॉस श्वॉस पर
तरंग का
प्रवास चल रहा है
अंतरंग गा रहा है
तरंग-रंग
भा रहा है
तभी तो
बालक का प्रतिपल
प्रयास चल रहा है
बहिरंग जा रहा है
तरंग पकड़ने,
और निस्सग तट में
फेन का बहाना है
हास चल रहा है
या उपहास चल रहा है ?
बालक पर क्या ? पालक पर
पता नहीं किस पर ?

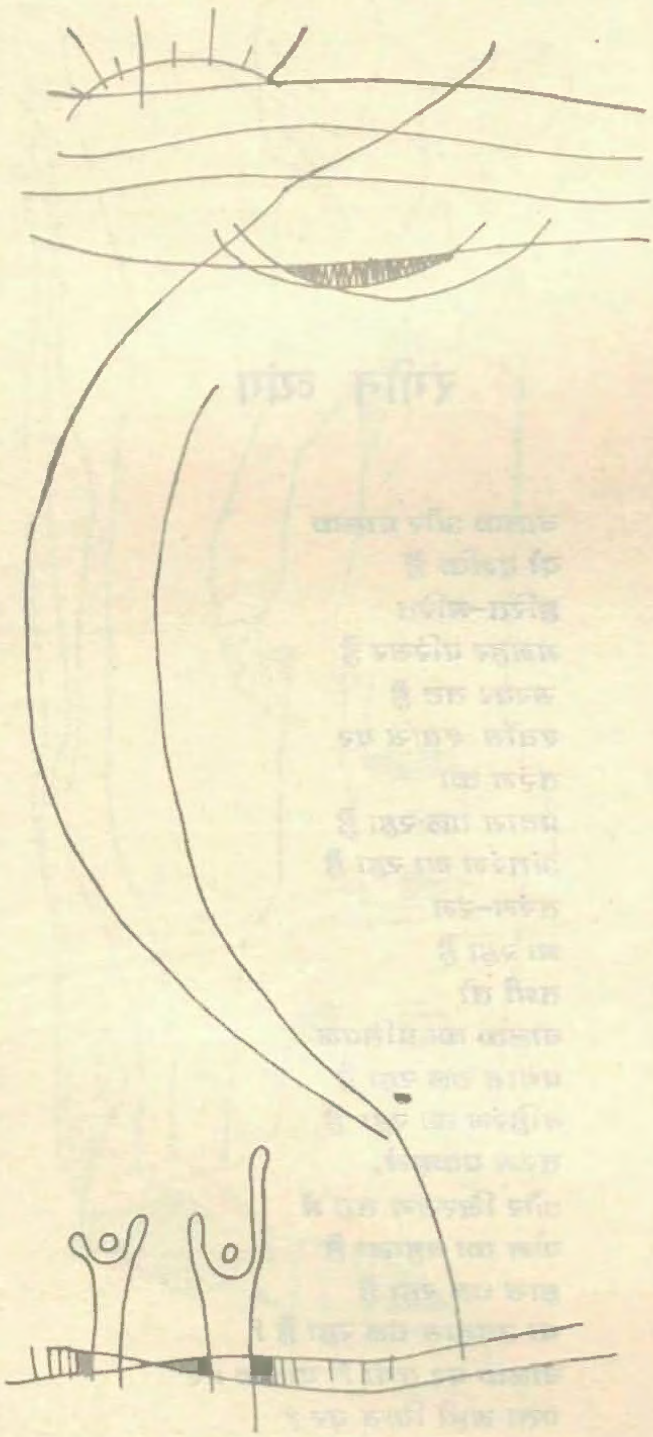

कदम फूल, कलम शूल

इस युग में भी
सतयुग-सा
सुधार तो हुआ है
पर लगता है
उधार हुआ है
अन्यथा
कभी का हुआ होता
उद्धार ..... ।
प्रभु के कदमों पर
चलने वाले कदम कम नहीं हैं
उन कदमों में
मखमल मुलायम
अच्छी अहिंसा पलती है
साथ ही साथ
उन कलमों में
हिंसा की दुगुणी-ज्वाला जलती है
इस युग में भी
सतयुग-सा
सुधार तो हुआ है
पर लगता है
उधार हुआ है ।

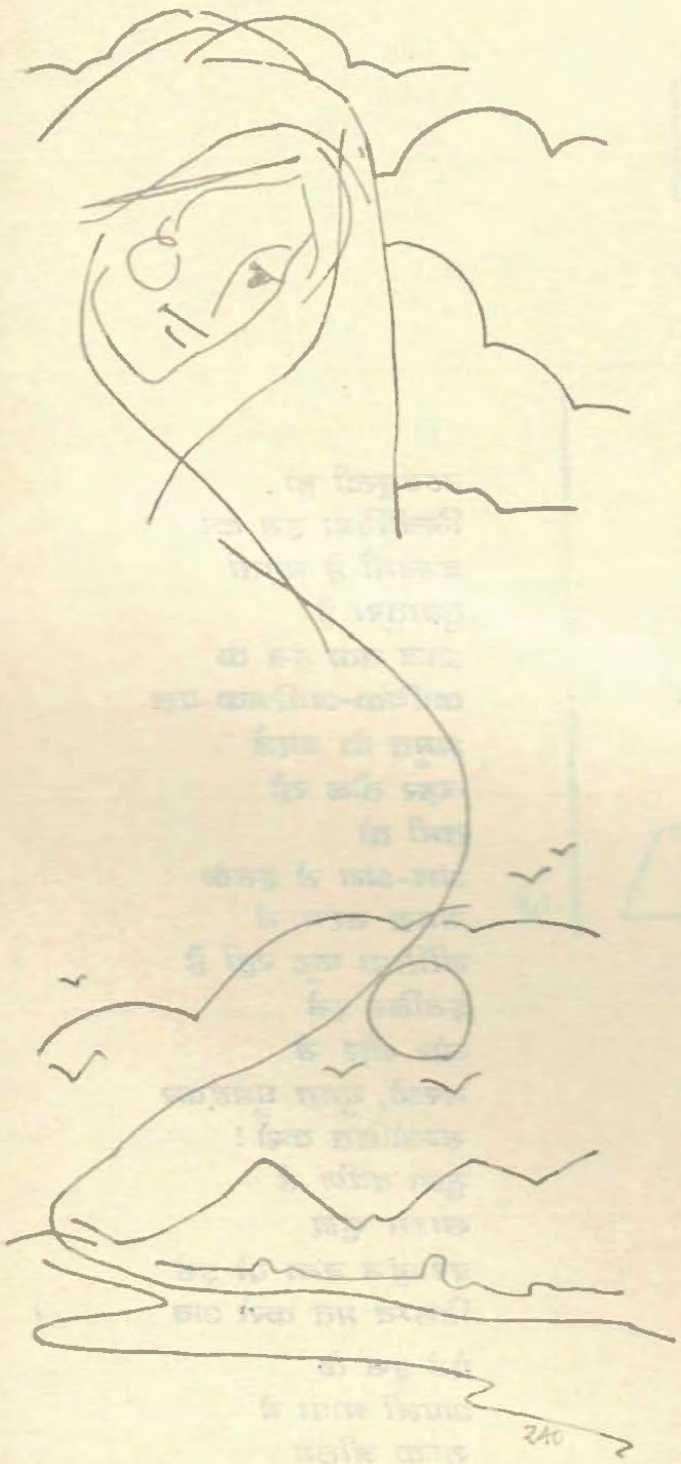

अधर के बोल

सरस सलिल से
भरे हुए हो
कलुष-कलिल से
परे हुए हो
इस धरती से
बहुत दूर हो तुम !
शुब्ध शून्य में
जलधर होकर
अधर डोल रहे
इधर यह मयूर
चिर प्रतीक्षित है
आपकी इंगन-कृपा से
दीक्षित है..... ।

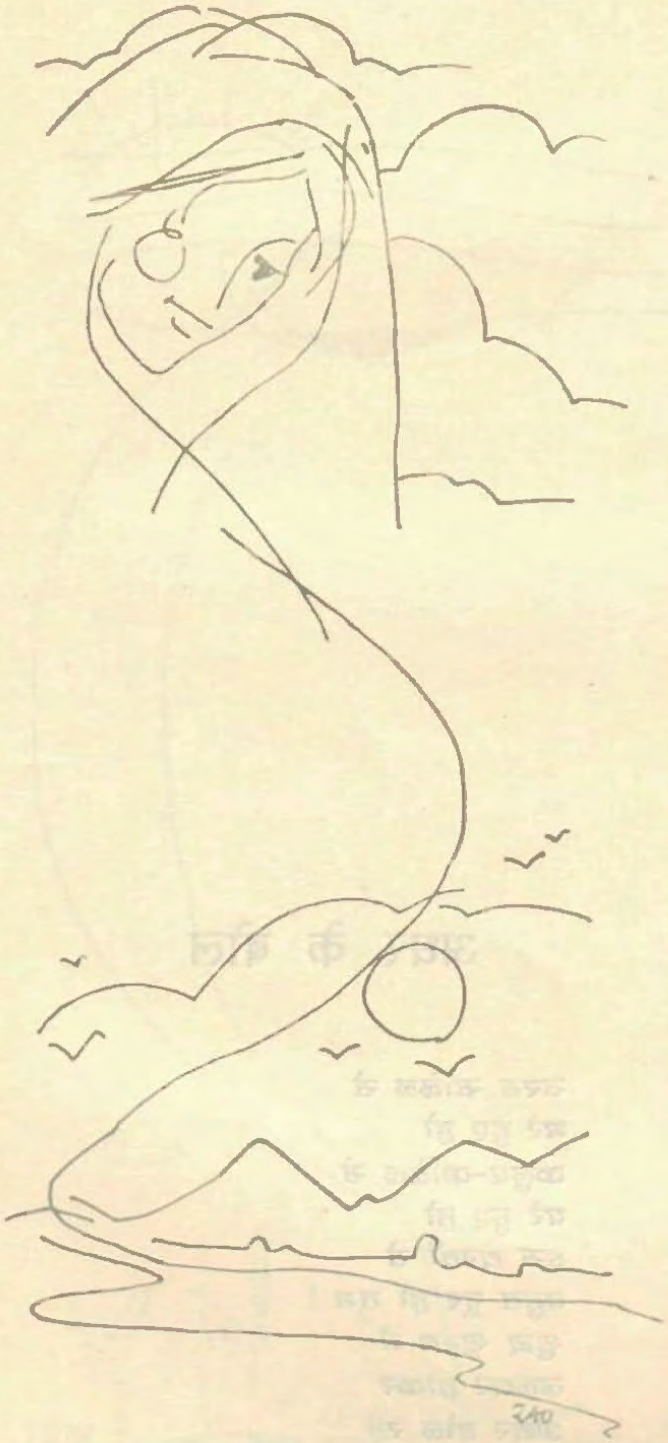

ऊर्ध्वमुखी हो
जिजीविषा इस की
बलवती है महती
तृषातुरा है
आज तक इस के
कायिक-आत्मिक-पक्ष
अमृत के बदले
जहर तौल रहे
तभी तो
अंग-अग से इसके
समग्र सत्य से
नीलिमा फूट रही है
इसलिए इसे
जोर शोर से
गरजो, घुमड़-घुमड़कर
सम्बोधित करो !
सुधा वर्षण से
शान्त शुद्ध
परमहंस बना दो इसे
विलम्ब मत करो अब..... ।
ऐसे इस के
अपनी भाषा में
शुष्क नीलम
अधर बोल रहे ।

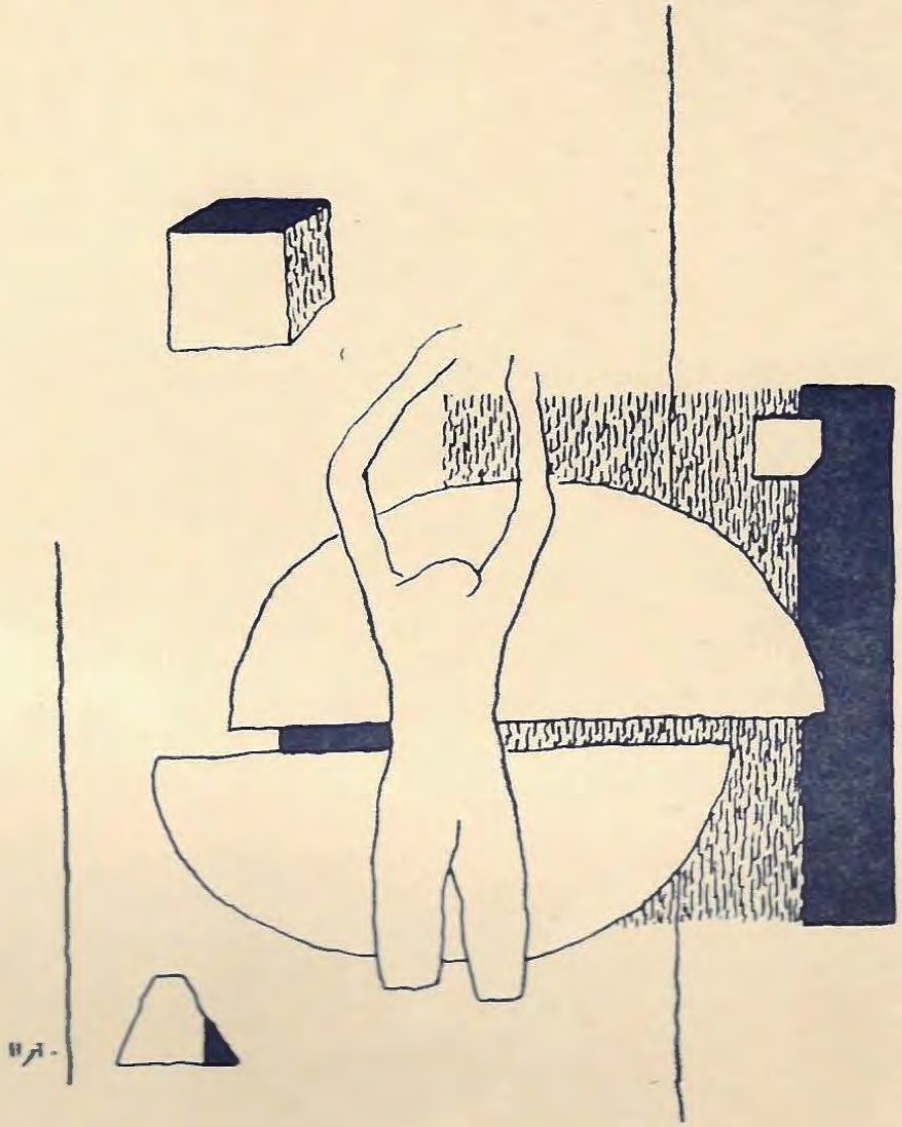

जीने की विधा

मरने की विधाएँ हैं–दुर्घटना से, बीमारी से, हत्या से, आत्महत्या से। मगर इन सब के ऊपर है वह मरण जो समाधि-मरण कहलाता है। ठीक इसी तरह जीने की कई शैलियां हैं संसार में। मजदूरी, नौकरी, धंधा, कृषिकर या चोरी/डाका डालकर मगर जीने की सर्वोत्तम विधा कुछ और ही है। उसे खोजें/समझें/जानें/ वह इन कविताओं में भी हो सकती है; कविताओं के लेखन/वाचन में भी हो सकती है।

आप प्रयास भर करें, करते चलें या पहले इसी खण्ड की कविता 'किस सांचे में ढलूं' पढ़ लें, आपका पथ सहज हो जायेगा। आप प्रश्न नहीं करेंगे फिर, बस; जीने की विधा पर केन्द्रित होने लगेंगे।

भू चुम्बी द्वार.....।

प्रभु के
विभु त्रिभुवन के
निकट जाना चाहते हो तुम .....।
उस मंदिर में जाने
टिकट पाना चाहते हो तुम .....।
वहाँ जाना बहुत विकट है
मानापमान का
अवसान! अनिवार्य है, सर्वप्रथम .....।
वहाँ विराजमान हैं भगवान!
जिस मंदिर का
चूल शिखर!
गगन चूम रहा है
और प्रवेश द्वार .....
धरती सूँघ रहा है
वहाँ जाना बहुत विकट है।

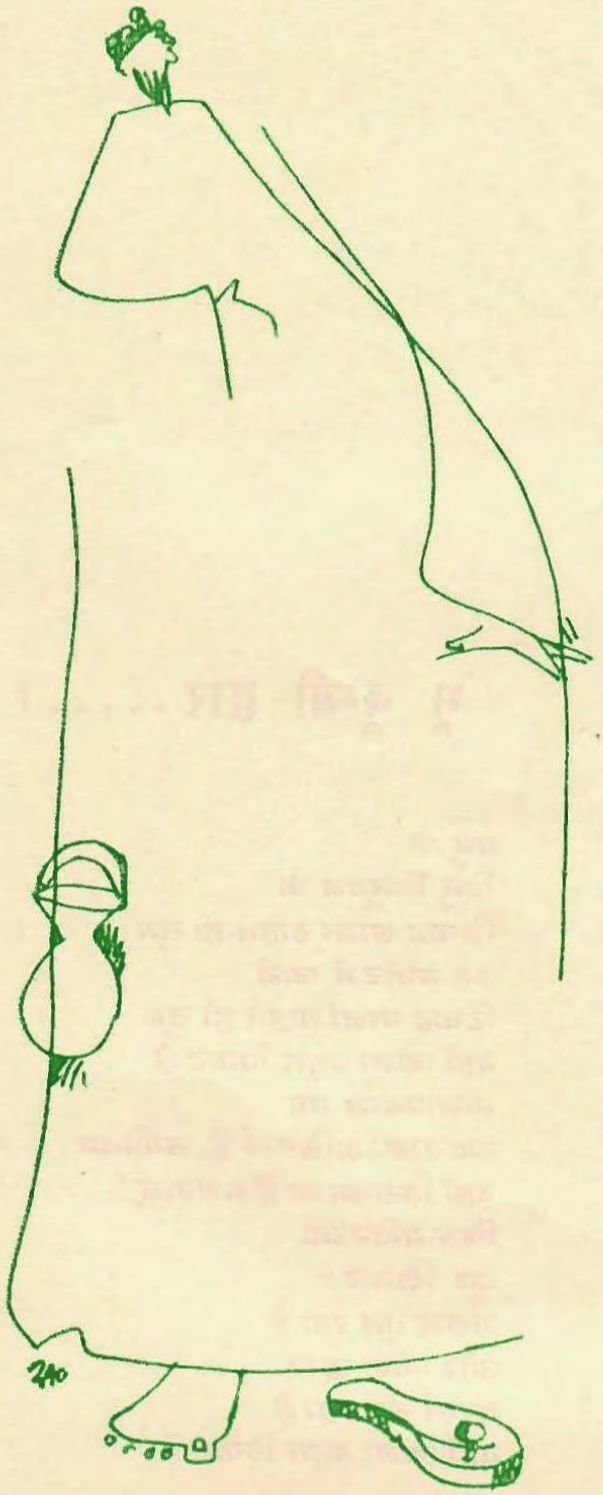

मोम बनूँ मैं....

वरदहस्त जो रहा है
इस मस्तक पर
हे गुरुवर
कठिन से कठिनतर
पाषाण-हृदय भी
मृदुल मोम हो गये,
दुःख की आग बरसाते
प्रचण्ड प्रभाकर भी
शरद सोम हो गये
विरोध की ज्वाला से जलते
विलोम, वातावरण भी
अनुलोम हो गए
चेतना की समग्र सत्ता
भय से संकोचित, मूर्च्छित थी आज तक
अब वह अभय-जागृत
पुलकित रोम-रोम हो गए
प्रति धाम से
प्रति-नाम से
मधुर ध्वनि की तरंग आ रही है
श्रवणों तक
बस ! वह सब
सुखद ओम् हो गए।

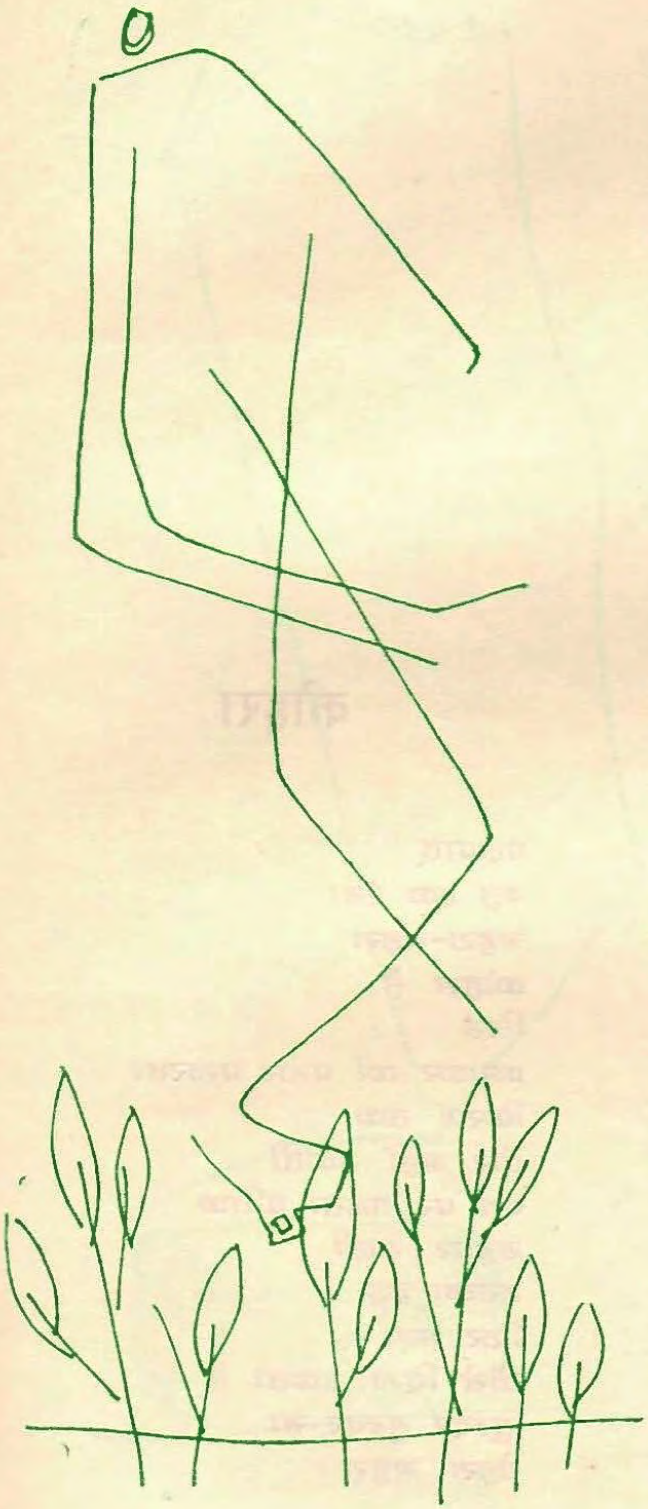

कसरत . . . . !

हमें यह
गुरुमन्त्र मिला है
कि
किसी भी आयाम से
प्राणों को पीड़ा होती हो
वह आयाम !
हिंसा है .....
चाहे प्राणायाम हो
या
बौद्धिक आयाम ! !
यानी !
सब आयामों का
उपराम होना ही
अहिंसा है
अपरनाम अनन्त-आराम

कोहरा

पक्षपात् ... ।
यह एक ऐसा
गहरा-गहरा
कोहरा है
जिसे
प्रभाकर की प्रखर प्रखरतर
किरणें तक
चीर नहीं सकतीं
पथ पर चलता पथिक
सहचर साथी
उसका वह
फिर भला
कैसे दिख सकता है
सुन्दर-सुन्दर-सा
चेहरा गहरा ।

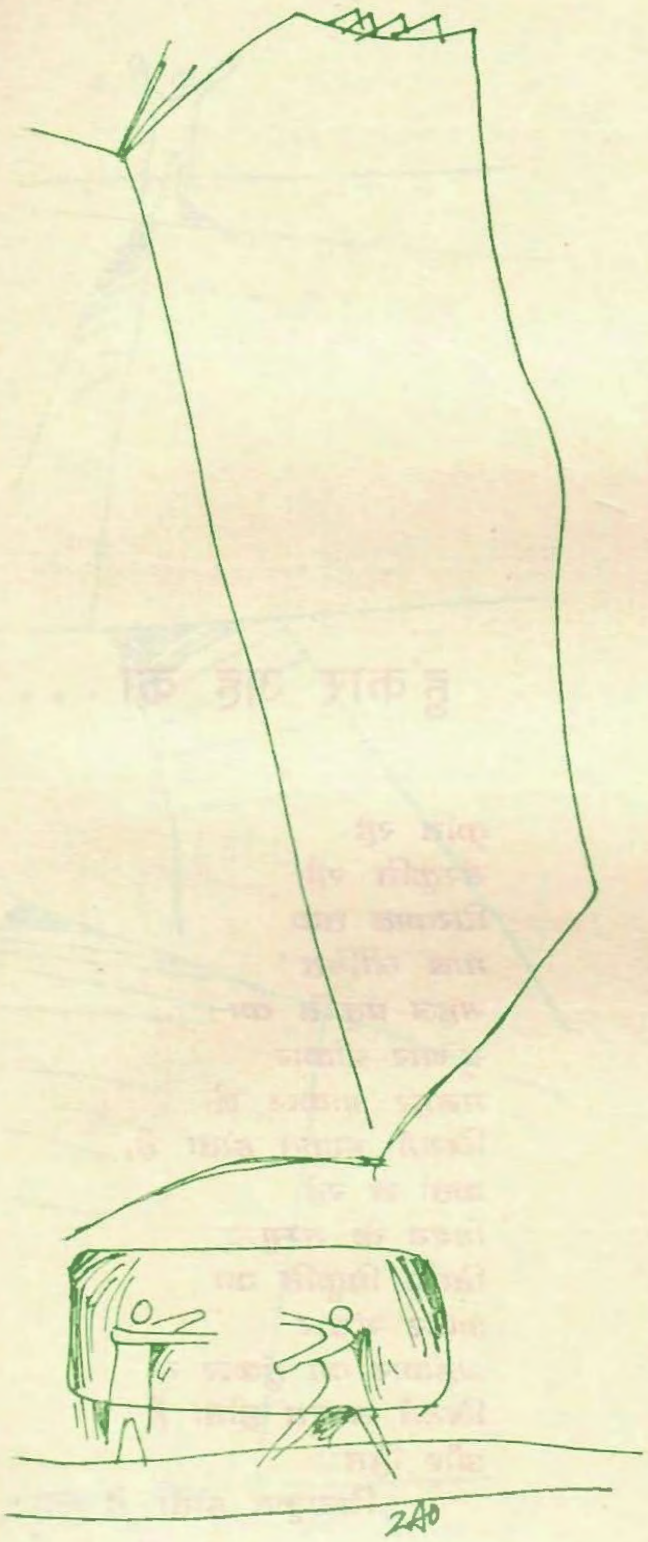

साहित्य

हित से जो युक्त
समन्वित होता है
वह सहित माना है
और
सहित का भाव ही
साहित्य-बाना है
यानी !
जिसके
अवलोकन से
सुख का संपादन हो
सही साहित्य वही है .....।

हुंकार अहं का....

कृति रहे
संस्कृति रहे
चिरकाल तक
मात्र जीवित !
सहज प्रकृति का
शृंगार-श्रीकार
मनहर आकार ले
जिसमें आकृत होता है,
कर्ता न रहे
विश्व के सम्मुख
विषम विकृति का
अपार संसार
अहंकार का हुंकार ले
जिसमें जागृत होता है
और हित.....
..... निराकृत होता है .....

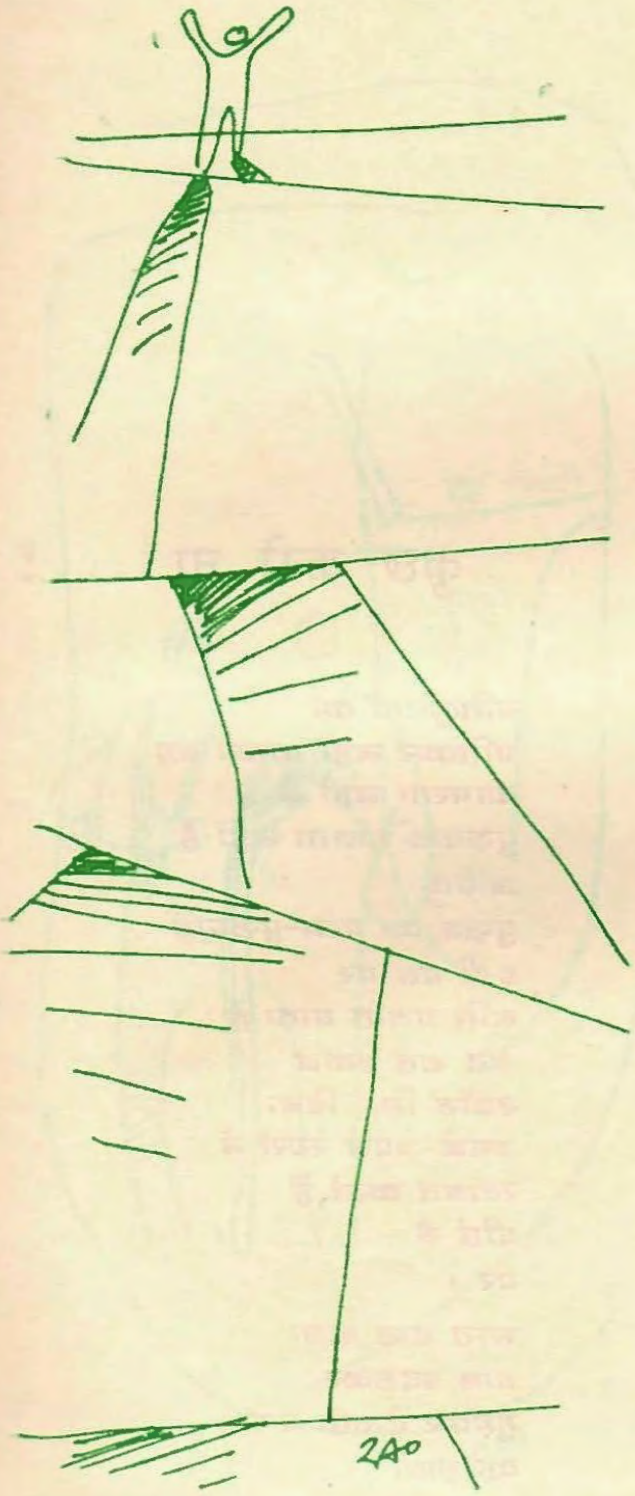

अवतार ....!

उतरा धरा पर
चिद् विलास
मानव बन
करनी कर
मानव-पन········पा
मानव पनपा,
तू मान वही
मान प्रमाण का पात्र बना
पाई अन्तिम-शान्ति
विश्रान्ति
फिर वहाँ से लौटा कहाँ ?
लौटना अशान्ति है
क्लान्ति, भटकन भ्रान्ति है
दुग्ध का विकास होता है
घृत का विलास होता है
घृत का लौटना किन्तु
दुग्ध के रूप में
सम्भव नहीं है

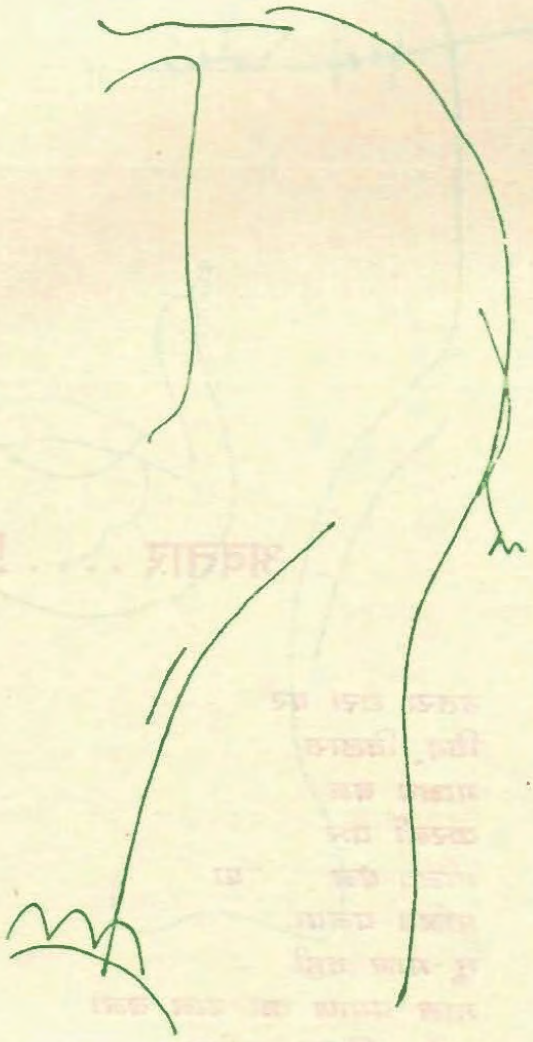

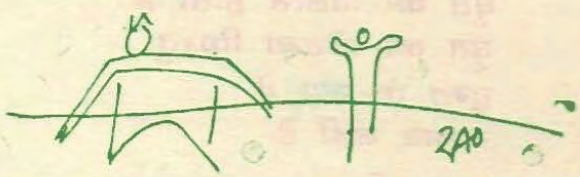

कुछ करो ना....!

प्रतिकूलता का
प्रतिकार नहीं करना वह
कायरता नहीं है
पुरुषार्थ हीनता नहीं है
अपितु
पुरुष का परम-पुरुषार्थ
इसी पथ पर
गति प्रगति पाता है
शत शत श्वॉन
श्वॉस लिए बिना
अपने-अपने स्वरों में
स्वागत करते हैं
पीछे से.....।
पर।

मस्त चाल वाला
चाल बदलकर
मुड़कर देखता क्या
वह हाथी.....।

पंक्ति पद .....

धर्म-कर्म से विमुख होकर
पापकर्म में प्रमुख होकर
अनुचित रूप से
धनार्जन कर
मान का भूखा बन
दान की अपेक्षा
समुचित रूप से
आवश्यक धन का अर्जन कर,
बिना दान भी
जीवन चलाना
पुण्य की निशानी है
कीचड़ में पद रखकर
लथ-पथ हो
निर्मल जल से
स्नान करने की अपेक्षा
कीचड़ की उपेक्षा कर
दूर रहना ही
बुद्धिमानी है।

प्रलय काल . . . . !

अन्याय की उपासना कर
वासना का दास बनकर
धनिक बनने की अपेक्षा
न्याय-मार्ग का उपासक बन
धनिक नहीं बनना भी
श्रेष्ठतम है
किन्तु
अकर्मण्यता
मानव मात्र को
अभिशाप है
महापाप है
कारण !
अन्याय से जीवन
बदनाम होता है
न्याय से नाम होता है
जबकि !
अकर्मण्य की छाँव में
जीवन
तमाम होता है

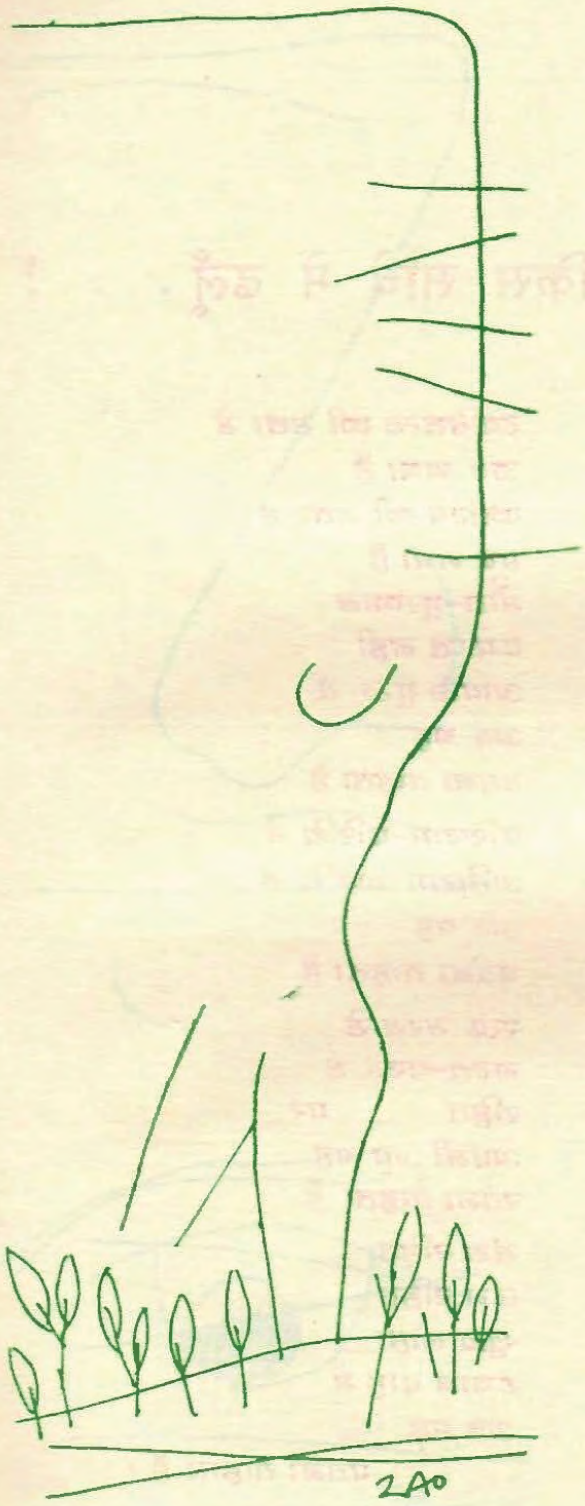

पेट से पेटी . . . .

अन्न-पान से
पेट की भूख
जब शान्त होती है
तब जागती है
रसना की भूख,
रस का मूल्यांकन !
नासा सुवास माँगती है
ललित-लावण्य की ओर
आँखें भागतीं हैं,
श्रवणा उतारती
स्वरों की आरती है
मन मस्ताना होता है
सब का कपतना होता है
अन्यथा
फण-कुचली घायल नागिन-सी
बिल से बाहर
निकलती नहीं है
ये इन्द्रिय-नागिन

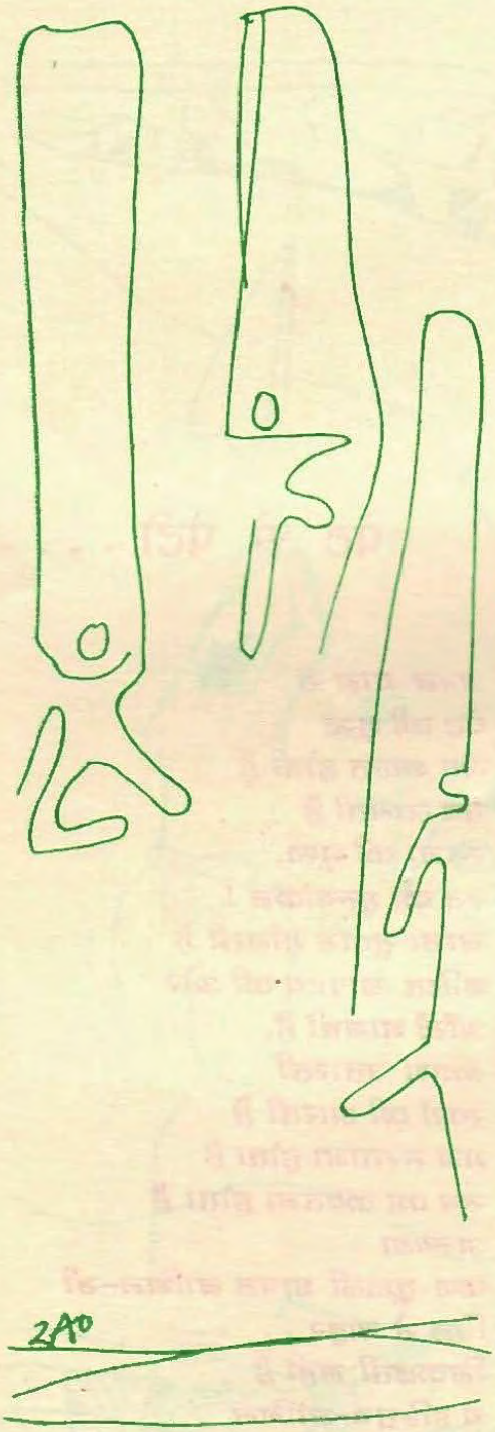

किस साँचे में ढलूँ....!

व्यक्तित्व की सत्ता से
ऊब गया है
कर्त्तव्य की सत्ता में
डूब गया है
मौन-मुस्कान
पर्याप्त नहीं
आपके सुख से
अब यह
बचना चाहता है
परिणाम-परिधि से
अभिराम अवधि से
अब यह
बचना चाहता है
रूप सरस से
गन्ध-परस से
रहित .....परे
अपनी अब यह
रचना चाहता है
संग रहित
जंग रहित
शुद्ध लोहा
ध्यान दाह में
अब यह
.....पचना चाहता है।

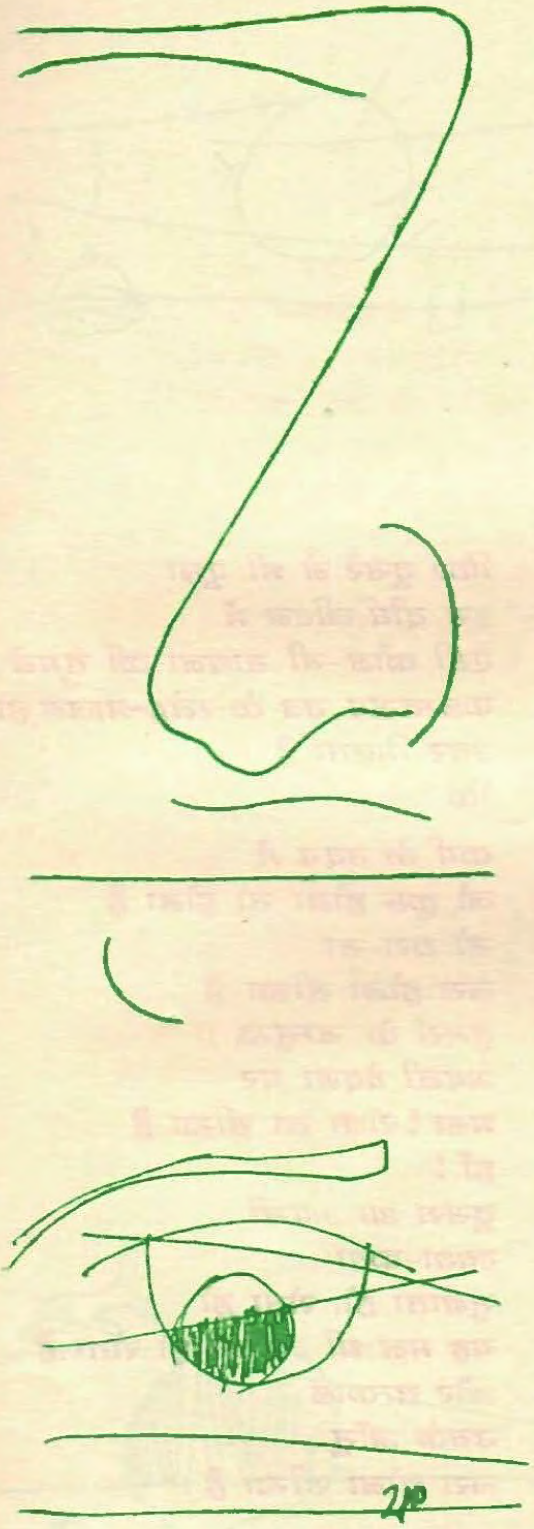

कैंची नहीं, सुई बन

चिर से बिछुड़े
दो सज्जन मिलते हैं
वृद्धावस्था में
परस्पर प्रेम वार्ता होती है
गले से गले मिलते हैं
गद्-गद् कण्ठ से,
एक ने पूछा एक से
तुमने क्या साधना की है
पर के लिए और अपने लिए ?
उत्तर मिलता है
द्वैत से अद्वैत की ओर बढ़ना हो
टूटे दो टुकड़ों को
एक रूप देना हो
तो सुनो
सुई होना सीखा है !

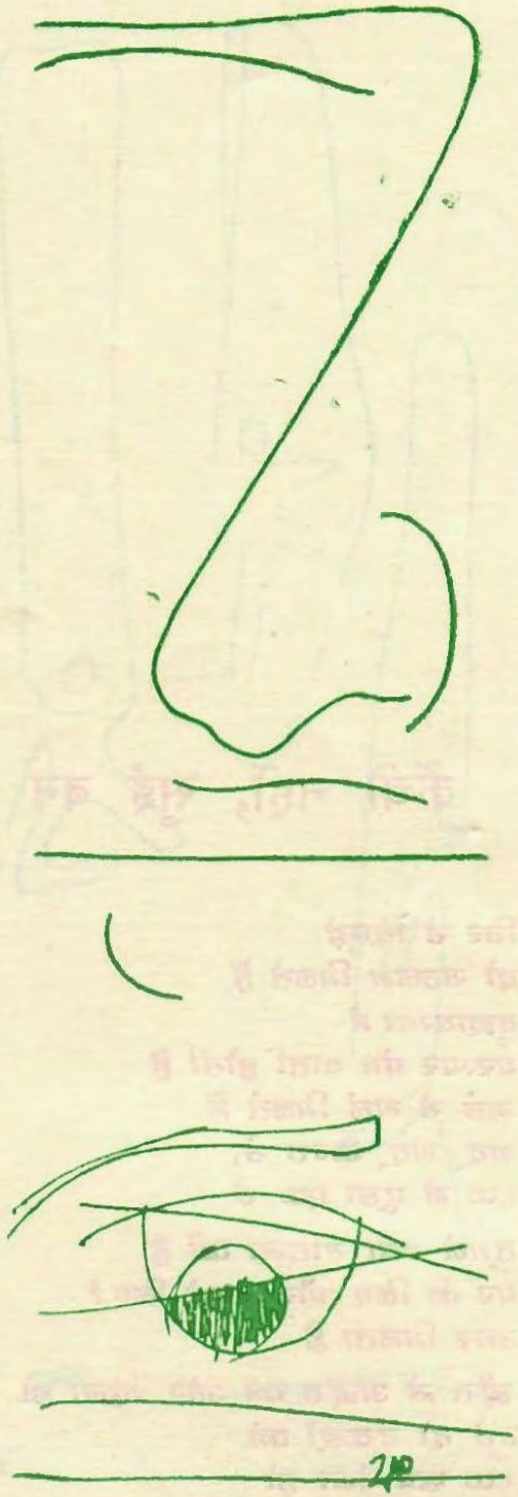

फिर दूसरे ने भी पूछा
इस दीर्घ जीवन में
ऐसी कौन-सी साधना की तुमने
फलस्वरूप सब के स्नेह-भाजन हो,
उत्तर मिलता है
कि
कर्म के उदय में
जो कुछ होना सो होना है
सो धरा-सा
जरा होना सीखा है
दूसरों के सम्मुख
अपनी वेदना पर
भला ! रोना ना सीखा है
हाँ !
दूसरा आ अपनी
व्यथा-कथा
सुनाता हो, रोता हो
यह मन भी व्यथित हो रोता है
और तत्काल
उसके आँसू
जरा धोना सीखा है।

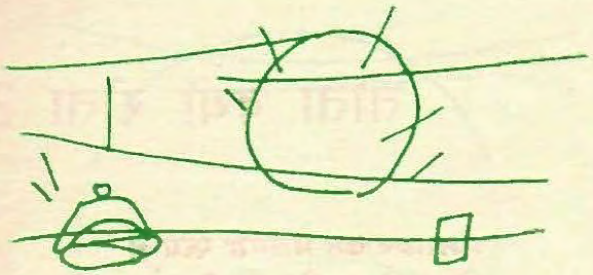

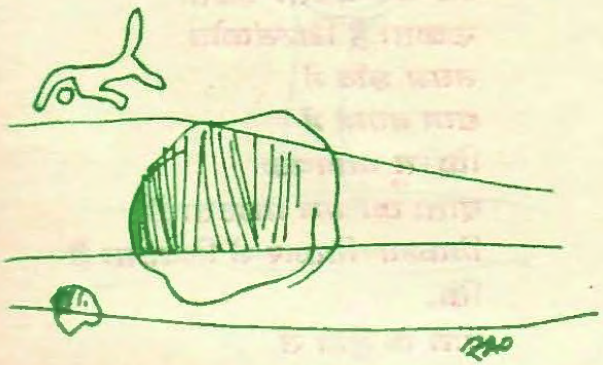

शव नहीं, शिव बनूँ

इस युग के
दो मानव
अपने आपको
खोना चाहते हैं
जिनमें एक
भोग राग को
मद्य पान को
चुनता है
और एक
योग-त्याग को
वन्द्य-ध्यान को
धुनता है
कुछ ही क्षणों में
दोनों होते
विकल्पों से मुक्त
फिर क्या कहना ?
एक शव के समान
पड़ा है
और एक
शिव के समान
भरा है (खरा उतरा है)

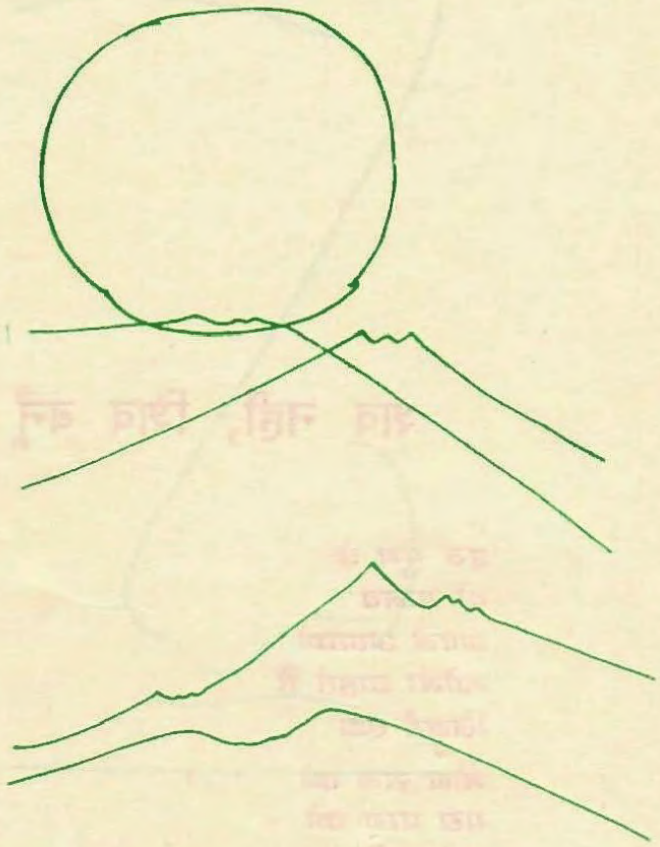

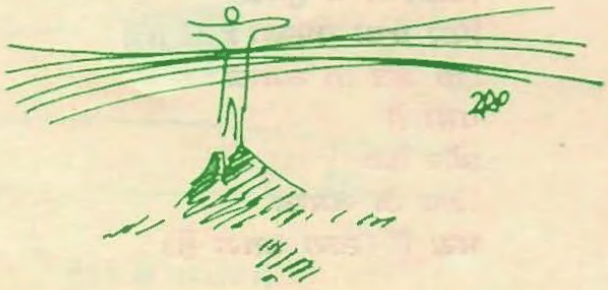

तोता क्यों रोता ?

प्रभाकर का प्रचण्ड रूप है
चिल-चिलाती धूप है
निदाघ का अवसर है
भरसक प्रयास चल रहा है
सरपट भागना चाह रहा है
पर भाग नहीं पा रहा है, भानु
सरक रहा है धीमे-धीमे
अस्ताचल की ओर,
और इधर
सर फट रहा है
फलभार ले झुका है
तपी धरा पर नग्न-पाद
आम्र-पादप खड़ा है
अपने के रूप में
दाता प्रांगण में
पात्र की प्रतीक्षा है
लो ! पुण्य का उदय आया है
कठिन परिश्रमी
हरदम उद्यमी
पदयात्री पथिक
पथ-पर-चलता-चलता
रुकता है निस्संकोच
सघन छाँव में
धाम बचाव में
किन्तु यकायक
दाता का मन पलटता है
विकल्प विकार से लिपटता है
कि,
पात्र के मुख से
वचन तो मिले
मीठे-मीठे

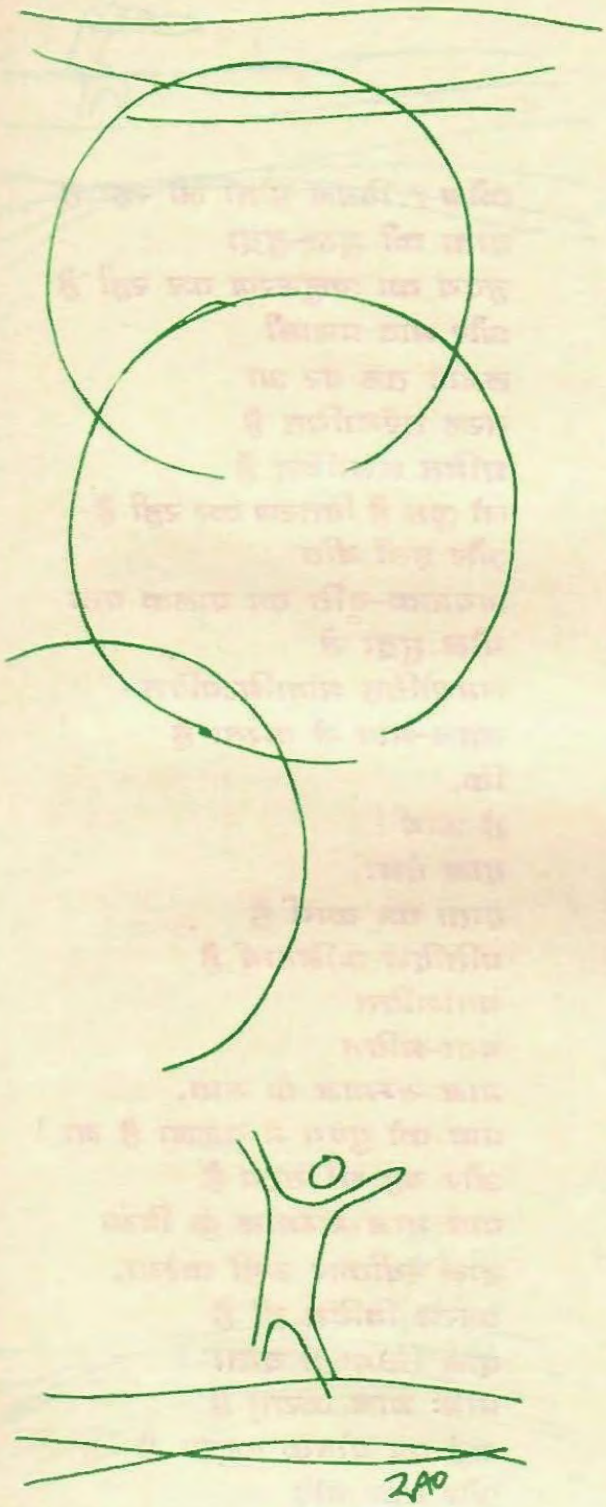

मिश्री मिले
प्रशंसा के रूप में
महान् दाता हो तुम
प्राण-प्रदाता हो तुम
और
दान-शास्त्र की
जीवन गाथा हो तुम !
आदि, आदि
अथवा
कम से कम खड़े-खड़े
दीन-हीन से
याचना तो करे
दोनों हाथ पसार !
अपना माथ सँभार
और दाता को
मान-सम्मान से पुरस्कृत करे,
कुछ तो करें
दाता कुछ देता है
तो प्रतिफल के रूप में
कुछ लेना भी चाहता है
लेन-देन का जोड़ा है ना !
लो संतों की वाणी भी
यही गाती है
"परस्परोपग्रहो जीवानाम्"
अस्तु !
और !
मौन सघन होता जा रहा है
अपना-अपना कर्त्तव्य
गौण, नगन होता जा रहा है
इस स्थिति में
कौन रोक सकता है इस प्रश्न को
कि,

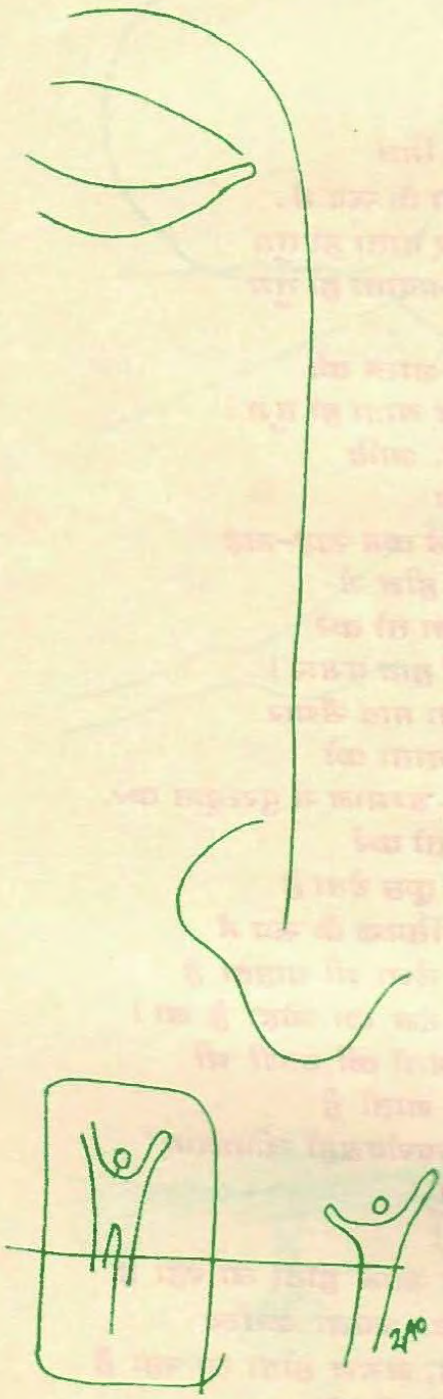

कौन ? विघन होता जा रहा है
दाता की मुख-मुद्रा
हृदय का अनुसरण कर रही है
और भाव प्रणाली
ललाट तल पर आ
तरल तरंगायित है
भ्रमित भंगायित है
जो कुछ है वितरण कर रही है
और इसी बीच
अयाचक-वृत्ति का पालक पात्र
मौन मुद्रा से
समयोचित भावाभिव्यक्ति
सहज-भाव से करता है
कि,
हे आर्य !
दान देना
दाता का कार्य है
प्रतिदिन अनिवार्य है
यथाशक्ति
यथा-भक्ति
मान-सम्मान के साथ,
पाप को पुण्य में ढलना है ना !
और यह भी सत्य है
पात्र मान-सम्मान के बिना
दान स्वीकार नहीं करेगा,
कारण विदित ही है
दान क्रिया में दाता
प्रायः मान करता है
अहं का पोषक बनता है
और पात्र यदि
दीनता की अभिव्यक्ति करता है
स्वाधीनता का शोषक बनता है

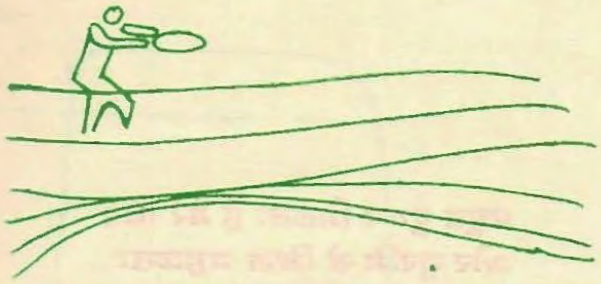

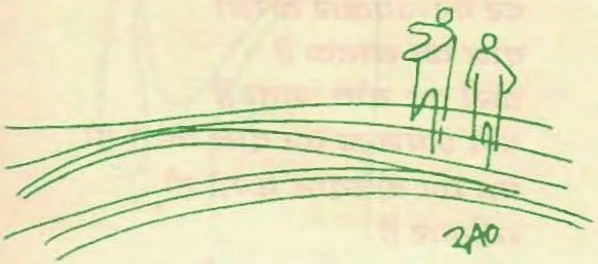

किन्तु !
मोक्ष-मार्ग में
यह अभिशाप सिद्ध होता है
इससे विरुद्ध चलना
वरदान सिद्ध होता है
इसलिए
समुचित विधान यही है
दान से पूर्व मान-सम्मान हो
वह भी भरपेट हो
बाद में दान
भले ही अल्प ..... अधपेट हो
सहर्ष स्वीकार है
और यह भी ध्यान रहे
याचना, यातना की जननी है
कायरता की खनी है
इस पात्र को
कैसे छू सकती है वह,
यह वीरता का धनी है
सदा-सदा के लिए
इसमें धीरता आ ठनी है
लो ! और यह कैसा विस्मय !
फलों की भीड़ से घिरा
नीड में बैठा-बैठा
निस्संग तोता
मौन वार्ता को पीता है
जो माँसाहार से रीता है .....
..... जीवन जीता है,
स्वैर-विहारी है
फलाहारी है
अतिथि की ओर निहारता है अनिमेष !
मन ही मन विचारता है
अभूतपूर्व घटना है मेरे लिए

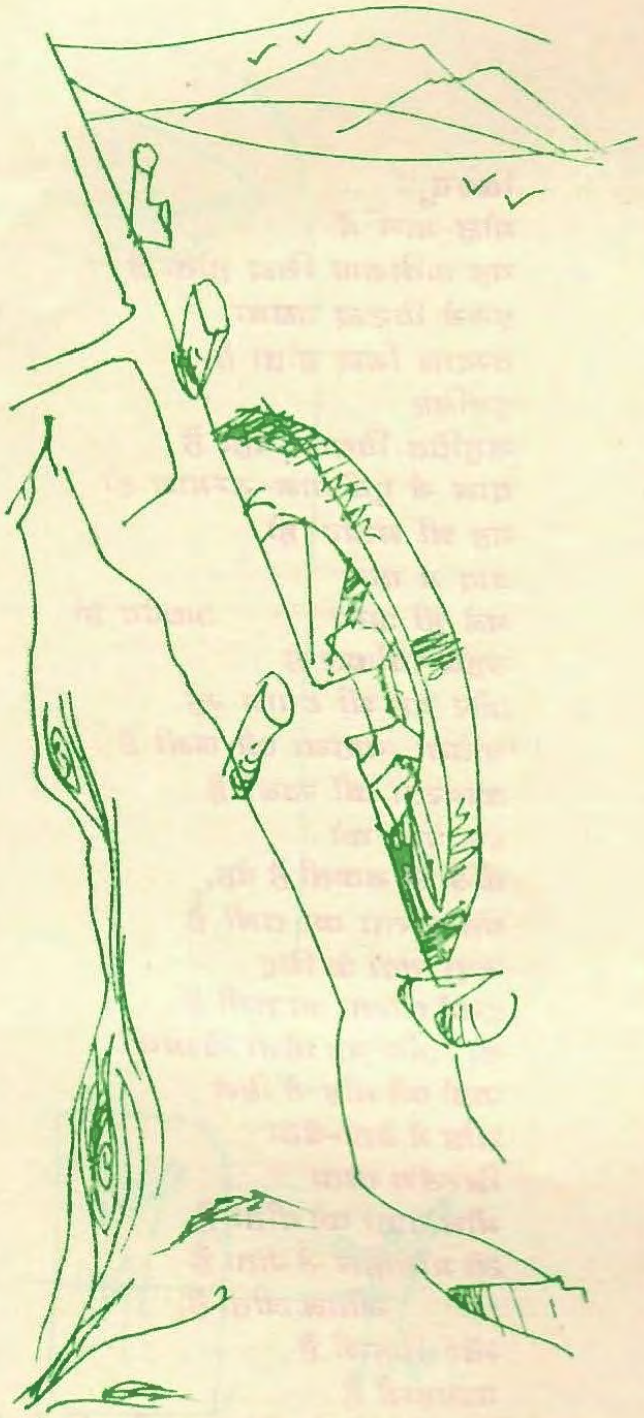

प्रभूत पुण्य मिलना है मेरे लिए
और सुरभि से मिरा महकता
सुन्दरता से मरा चहकता
पक्व रसाल चुनता है
अतिथि के लिए
दान हेतु,
किन्तु
तत्काल क्या हुआ
सुनो तुम !
मनोविज्ञान में निष्णात जो है
अतिथि की ओर से
मौन-भाषा की शुरुआत और होती है
कि
यह भी दान स्वीकार नहीं है इसे
यद्यपि इसमें
पूर्व की अपेक्षा
मान-सम्मान का पुट है
और भरपूर है,
किन्तु !
दाता दान को मजबूर है
पात्र को देखकर
और !
पर पदार्थ को लेकर
पर पर-उपकार करना
दान का नाटक है
चोरी का दोष आता है
यदि अपनत्व का दान करते हो
श्रम का बलिदान करते हो
स्वीकार है,
अन्यथा यह सब वृथा है
तथा स्व पर के लिए
सर्वथा व्यथा है ।

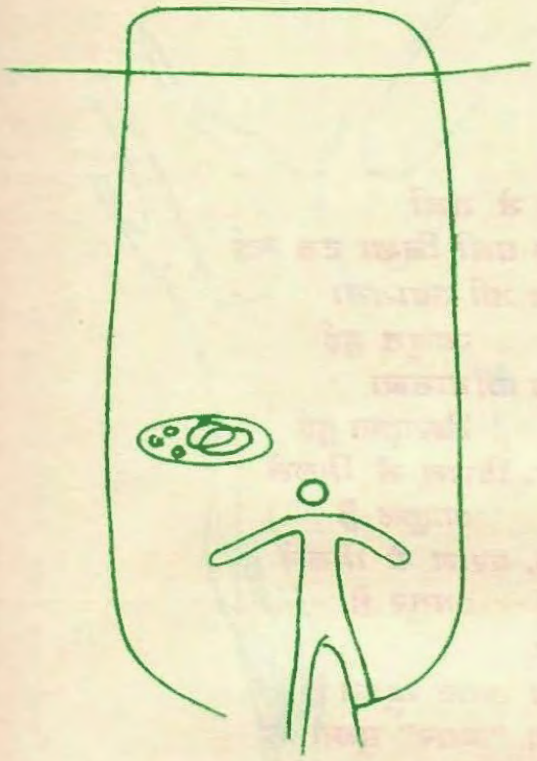

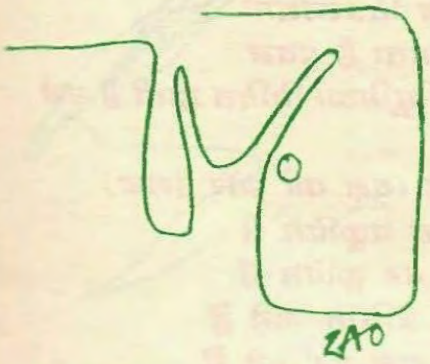

दान की कथा सुनकर
मूक रह जाता तोता
भीतर ही भीतर
उसका मन व्यथित होता है
अकर्मण्य जीवन पर रोता है
तन भी मथित होता है उसका,
और !
सजल-लोचन कर
निजी आलोचन कर
प्रभु से प्रार्थना करता है
अगला जीवन इसका
श्रम-शील बने
श्रम-झील बने
और! बहुत विलम्ब करना उचित नहीं!
अतिथि लौट न जाये
खाली हाथ ।
ऐसा सोचता हुआ
उसी पल एक
पका फल
अनुभूत भाव से
अपने आपको
भरा हुआ-सा
अभिभूत अनुभूत करता है
पूत-सफलीभूत बनाने
जीवन को दान-दूत बनाने
जिसमें नव-नवीन भाव
प्रसूत होता है
कर्त्तव्य के प्रति
प्रस्तुत करता है
अतिथि का रूप निरखकर
अतिथि का स्वरूप परखकर
जीवन को दिशा मिल गई

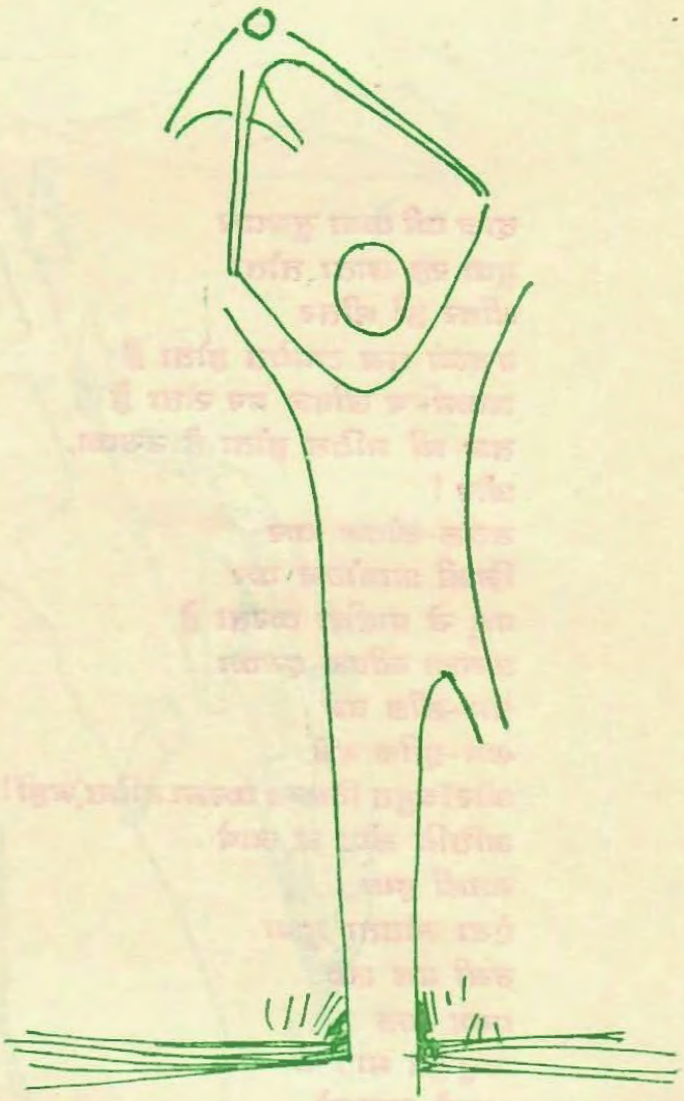

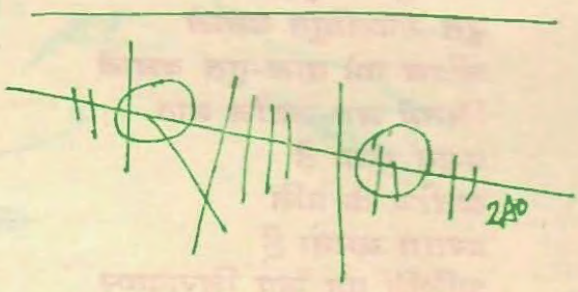

चिर से तनी
और घनी निशा टल गई
दान की उपासना
.....जागृत हुई
मान की वासना
.....निराकृत हुई
राम, विराम से मिलने
.....आकुल है
पंक, पराग से मिलने
.....आतुर है
और
बन्द अधर खुलते हैं
शब्द "अधर" डुलते हैं
आगत का स्वागत हो
अभ्यागत आदृत हो
सेवा स्वीकृत हो
सेवक अनुगृहीत हो
हे। स्वामिन्! हे स्वामिन्! हे स्वामिन्!
और दान कार्य सम्पादन हेतु
सहयोग के रूप में पवन को
आहूत करता है
वन-उपवन विचरणधर्मा
तत्काल आता है पवन
फल से पूर्व-भूमिका विदित होती है उसे
कि
ये पिता है (वृक्ष की ओर इंगन)
इनका पित्त प्रकुपित है
तभी मुझ पर कुपित हैं
आँगन में अतिथि खड़े हैं
ये अपनी धुन पर अड़े हैं
स्वयं-दान देते नहीं
देने देते नहीं

मान प्रबल है इनका
ज्ञान समल है इनका
मेरे प्रति मोह है
पर के प्रति द्रोह है
क्या पूत को कपूत बनाना चाहते हैं, ये
पूत पवित्र नहीं
और पवन को इंगित करता पका फल
मैं बन्धन तोड़ना चाहता हूँ
इस कार्य में सहयोग अपेक्षित है
"समझदार को इशारा काफी है"
सूक्ति चरितार्थ हुई,
और पवन ने
एक हल्का-सा
झोका दे दिया
प्रकारान्तर से
वृक्ष को धोका दे दिया
रसाल फल
डाल से खिसक कर
शून्य में दोलायित हुआ
अर्पित होने, लालायित हुआ
चिर के लिए बन्धन क्रन्दन
पलायित हुआ,
पुनः पवन को समझाता है
मुझे इधर-उधर नहीं गिराना
सीधा बस
पात्र के पाणिपात्र में गिराना
और एक झोका देने पर
डाल के गाल पर ।
फल, कर में आ पात्र के
अर्पित होता है
स्वप्न साकार होता है
और सत्कार्य में भाग लेकर

पवन भी बड़भागी बनता है
पाप त्यागी बनता है
सज्जन समागम से
रागी विरागी बनता है
नीर, क्षीर में गिरता है
शीघ्र क्षीर बनता है,
और पथ पर
सहज चाल से पूर्ववत्
चल पड़ा वह अतिथि
उधर डाल के गाल पर
लटकता अध-पका
फलों का दल बोल पड़ा
कि
कल और आना जी !
इसका भी भविष्य उज्ज्वल हो
करुणा इस ओर भी लाना जी !
अतिथि की हल्की-सी मुस्कान
कुछ बोलती सी !
यह भविष्य में जीता नहीं
अतीत का हाला पीता नहीं
यही इसकी गीता है
सरगम-संगीता है
देखो ! क्या होता है ?
जिसके बीच में रात
उसकी क्या बात ?
और वह देखता रह जाता फलों का दल
सुदूर तक दिखती
अतिथि की पीठ
पुनरागमन की प्रतीक्षा में ....

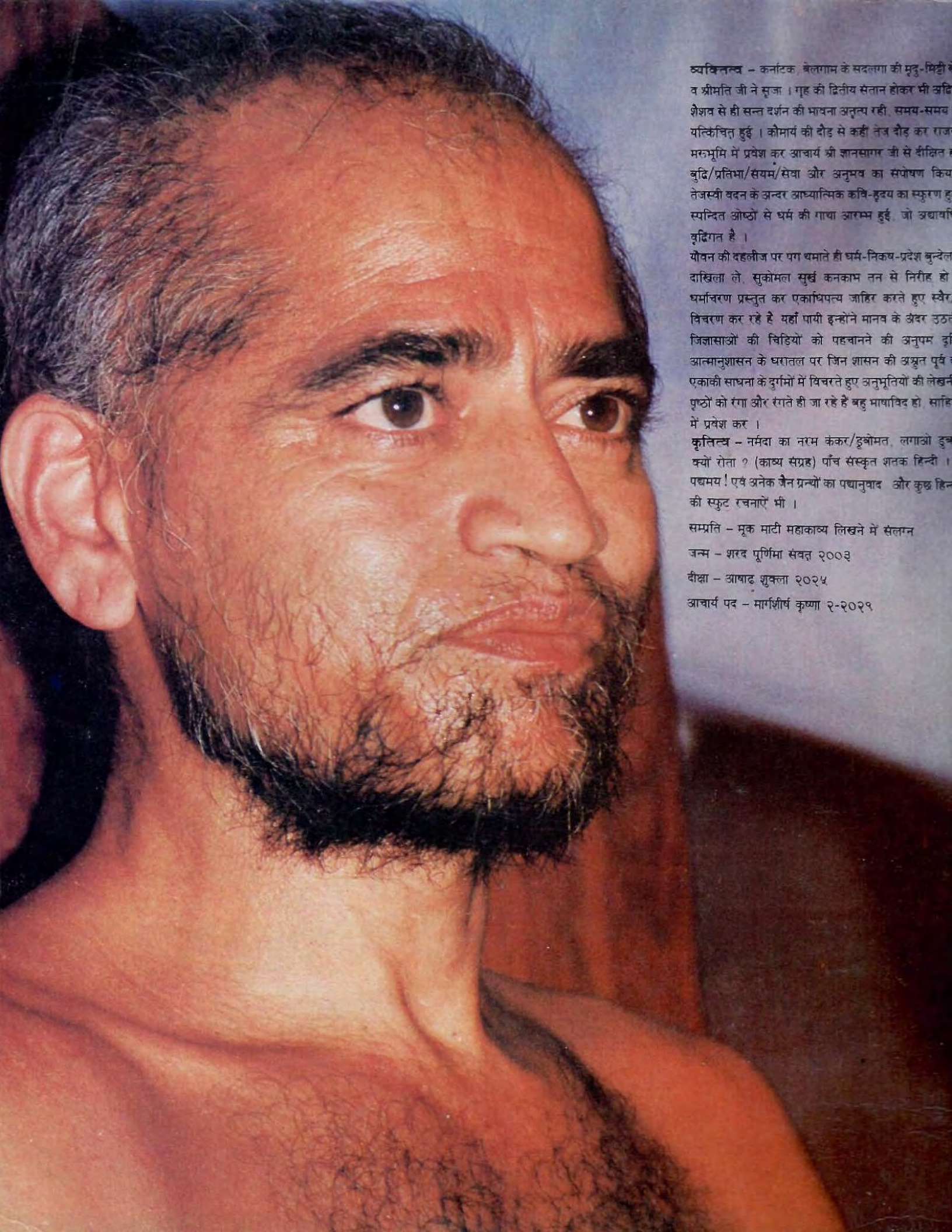

व्यक्तित्व – कर्नाटक, बेलगाम के सदलगा की मृदु-मिट्टी
व श्रीमति जी ने सृजा । गृह की द्वितीय संतान होकर भी अदि
शैशव से ही सन्त दर्शन की भावना अनृत्य रही, समय-समय
यत्किंचित् हुई । कौमार्य की दौड़ से कहीं तेज दौड़ कर राज
मरुभूमि में प्रवेश कर आचार्य श्री ज्ञानसागर जी से दीक्षित
बुद्धि/प्रतिभा/संयम/सेवा और अनुभव का संपोषण किय
तेजस्वी वदन के अन्दर आध्यात्मिक कवि-हृदय का स्फुरण हु
स्पन्दित ओष्ठों से धर्म की गाथा आरम्भ हुई, जो अथावि
वृद्धिगत है ।

यौवन की दहलीज पर पग थमाते ही धर्म-निकष-प्रदेश बुन्देल
दाखिला ले, सुकोमल सुर्ख कनकाभ तन से निरीह हो
धर्माचरण प्रस्तुत कर एकाधिपत्य जाहिर करते हुए स्वैर
विचरण कर रहे हैं यहाँ पायी इन्होंने मानव के अंदर उठ
जिज्ञासाओं की चिड़ियों को पहचानने की अनुपम दृ
आत्मानुशासन के धरातल पर जिन शासन की अश्रुत पूर्व
एकाकी साधना के दुर्गमों में विचरते हुए अनुभूतियों की लेखनी
पृष्ठों को रंगा और रंगते ही जा रहे हैं बहु भाषाविद हो, साहि
में प्रवेश कर ।

कृतित्व – नर्मदा का नरम कंकर/डूबोमत, लगाओ डुब
क्यों रोता ? (काव्य संग्रह) पाँच संस्कृत शतक हिन्दी
पद्यमय ! एवं अनेक जैन ग्रन्थों का पद्यानुवाद और कुछ हिन
की स्फुट रचनाऐं भी ।

सम्प्रति – मूक माटी महाकाव्य लिखने में संलग्न

जन्म – शरद पूर्णिमा संवत् २००३

दीक्षा – आषाढ़ शुक्ला २०२५

आचार्य पद – मार्गशीर्ष कृष्णा २-२०२९